हिन्दी-प्रवेशिका

लड़कों के वरनाक्युलर मदरसों की तीसरी और चौथी जमाअत के वास्ते।

संशोधित संस्करण।

मैकमिलन ऐण्ड कम्पनी, लिमिटेड
कलकत्ता, बम्बई, मद्रास, लण्डन
१९२७

सूचीपत्र ।

हिन्दी-प्रवेशिका

ईश्वर-वन्दना

हे प्रभो ! आनन्ददाता ज्ञान हमको दीजिये ।
शीघ्र सारे दुर्गुणों को दूर हम से कीजिये ॥
लीजिये हमको शरण में हम सदाचारी बनें ।
ब्रह्मचारी, धर्मरक्षक, वीर-व्रतधारी बनें ॥

—कविताविनोद

समय

प्यारे बालको ! यह तो सब ही जानते हैं कि समय बड़ा ही अमूल्य पदार्थ है जो एक बार खो जाने से फिर नहीं मिलता पर उसका उपयोग करना बहुतों को ज्ञात नहीं है। कितने ही बालक तो अपना बहुमूल्य समय बातचीत ही में व्यतीत कर देते हैं, और कुछ रात दिन खेल कूद ही म लगे रहते हैं। तात्पर्य्य यह है कि सभी अपना समय वृथा काटने को कुछ न कुछ उपाय निकाल ही लेते हैं। वे यह नहीं समझते कि एक

एक क्षण के साथ उनकी आयु घटती ही जाती है। वे नहीं सोचते कि उनको अपना जीवन कैसे व्यतीत करना चाहिए। अन्त मे जब काल समीप आ पहुचता है तब वे कहते हैं कि, "अहह! हमने संसार में आकर कुछ भी कार्य नही किया और व्यर्थ जन्म ले कर पृथ्वी (पृथ्वी) को बोझल किया।" उस समय वे अपने कर्त्तव्यों पर ध्यान देते हैं कि उन्हे क्या क्या करना चाहिये था जो वे इस छोटे से जीवन में नही कर पाये। तब वे लम्बी साँस ले अपने दूसरे मित्रों से विनय करते हैं कि—हे मित्रो! देखो तुम भी हमारे सरीखे न बन जाना, ज़रा अपने कर्त्तव्यों पर ध्यान रक्खो और समय व्यर्थ न जाने दो। यदि काल देवता का तुम भली भाँति सत्कार करोगे तो वह प्रसन्न हो कर सदैव तुम पर सुख की वृष्टि करेंगे। न तो तुम्हारे पास कोई रोग फटकेगा, और न दरिद्रता ही पास फटकेगी। तुम्हारा धन-कोष कुबेर के कोष को भी मात करने की चेष्टा करेगा और बुद्धि में तो तुम साक्षात् सरस्वती के समान बन जाओगे। सो हे प्यारे बालको! मेरी भी तुम से यही प्रार्थना है कि यदि तुम अपने को आनन्द में रखना चाहो और अपने कुटुम्बियों को सुख देना चाहो और अपना जीवन सफल करना चाहो तो एक एक पल को अमूल्य समझ कर कभी व्यर्थ न जाने दो। अपने समय के घण्टे बाँध लो कि अमुक समय में हम यह करेंगे और अमुक समय में हम यह करेंगे। जिस समय तुम इस प्रकार से अपना समय विभक्त कर लोगे और उसके अनुसार चलोगे,

उस समय तुम देखोगे कि तुमने पहिले से कितनी उन्नति प्राप्त की है।

ईश-वन्दना

पितु मातु सहायक स्वामि सखा,
तुम ही इक नाथ हमारे हो।
जिनके कछु और अधार नही,
तिनके तुम ही रखवारे हो॥
प्रतिपाल करो सिगरे जग को,
अतिशय करुणा उर धारे हो।
भुलि हैं हम ही तुम को तुम तो,
हमरी सुधि नाहि विसारे हो॥
उपकारन को कछु अन्त नही,
छिन ही छिन जो विस्तारे हो।
महाराज महा महिमा तुम्हरी,
समुझे विरले बुध वारे हो॥
शुभ शान्त निकेतन प्रेमनिधे,
मन-मन्दिर के उजियारे हो।
इन जीवन के तुम जीवन हो,
इन प्रानन के तुम प्यारे हो॥

तुम सों प्रभु पाइ "प्रताप" हरी,
किहि के अब और सहारे हो ॥

—प्रतापनारायण मिश्र।

दिलीप और सिंह

महाराजा रामचन्द्र से चार पीढ़ी पहले अवध में राजा दिलीप राज्य करते थे। वे जसे बलवान् थे वसे ही पण्डित भी थे। उनके बल का पता इसी एक बात से लगता है कि लड़ाई में वे देवताओं के राजा इन्द्र की सहायता करने गये थे। वैसे तो उनको सब तरह का सुख था, पर एक चिन्ता बेचैन किये रहती थी। उनको कोई कुँवर न था जो उनके पीछे गद्दी पर बठता।

अन्त में इस चिन्ता से व्याकुल होकर राजा ने सारा राज-काज तो मन्त्रियों को सौंप दिया, और आप रानी को साथ लेकर गुरु वशिष्ठ के आश्रम में पहुचे। इधर उधर की बातों के बाद जब गुरुजी ने राजा को सन्तति को दुःख देखा तो कहा कि तुम पर कामधेनु की नाराज़ी है। स्वग से लौटते समय तुमने रास्ते में उसको हाथ नहीं जोड़े, इसी से उसने शाप दे दिया कि मेरी सन्तति की सेवा करने पर ही राजा का वंश चलेगा। सोच कर गुरु वशिष्ठ ने कहा कि अब चिन्ता छोड़ो और एक काम करो। मेरे आश्रम में उसी कामधेनु की बेटी,

नन्दिनी है। कल से उसी की सेवा करने लगो। वह तुम्हारे मनोरथ को पूरा कर देगी। जहाँ वह जाय जाने दो, और वह जैसा जैसा करे वैसाही तुम भी करो। दिलीप ने गुरु की आज्ञा मान ली। रात होने पर वे कुटी में सो रहे।

दूसरे दिन बड़े तडके उठ बठे। सवेरे नन्दिनी दुही गई। बछडा बाँध दिया गया। रानी ने चन्दन चावल से उसकी पूजा कर माला पहनाई। अब नन्दिनी वन में चरने को चली और राजा सेवा करने को चले। थोड़ी दूर तक रानी सुदक्षिणा भी साथ साथ गई। कुछ दूर जाने पर राजा ने चाकरों को लौटा दिया। नन्दिनी अपनी इच्छा के अनुसार वे रोक टोक चली जाती थी। जहाँ उसके जी में आता चरती, बठती, पानी पीती और खड़ी होती थी। राजा भी वैसा ही करता जाता था। वह नरम नरम हरी हरी घास उसे खाने को देता और उसकी देह पर से जङ्गली मच्छड़ों को भगा देता, कि वे काटने न पाव। शाम को अपने बछड़े के लिये रमाती हुई नन्दिनी आश्रम को लौटती। स्तन के भार से वह धीरे धीरे चलती थी। खूब मोटे ताज़े राजा उसके पीछे पीछे चले जाते थे। आश्रम से कुछ आगे बढ़कर रानी अगवानी करती और पूजा कर उसे स्थान पर ले आती थी। दुही जाने पर रात को राजा उसे खिलाता पिलाता और उसके पास दिया जला कर रख देता था।

इस तरह सेवा करते करते इक्कीस दिन बीत गये। अब

नन्दिनी ने, राजा की परीक्षा लेने के लिये, वाईसव दिन गङ्गा के कगार में चरते चरते एक गुफ़ा में पैर रक्खा। वहाँ खूब हरी हरी दूब लगी थी और नीचे गङ्गा की धारा वह रही थी। राजा ने सोचा कि यह कामधेनु की बेटी है, किस पशु की हिम्मत है जो इसे सतावे। वे खड़े खड़े पहाड़ का दृश्य देख रहे थे कि गाय की दुख भरी आवाज़ सुनाई पड़ी। उन्होंने लपक कर देखा कि सिंह ने गाय को दवा लिया है। गाय का डरा हुआ चेहरा देखकर राजा दिलीप को बड़ी दया आई और शेर को मारने के लिये तरकस से तीर निकालना चाहा; पर हाथ तरकस पर चिपक गया। राजा बड़े असमंजस मे पड़े। ऐसी अनहोनी वात तो कभी हुई न थी। शत्रु के आगे ऐसी लाचारी!

इधर सिंह ने आदमी की वोली में कहा—"क्या समझकर मुझे तीर मारने चले हो? मुझे ऐसा वैसा जङ्गली शेर न समझ लेना। मैं साक्षात् महादेवजी का सेवक हूं। मेरा नाम कुम्भोदर है महादेवजी की आज्ञा से मैं इस देवदारु के पौधे की रखवाली करता हूं और यहाँ जो पशु आ जाते हैं वही मेरी खुराक हैं। अव समझे अपने हाथ चिपकने का कारण? अच्छा, अव तुम अपने गुरु के पास लौट जाओ। जो काम तुम कर नहीं सकते उसके लिये गुरुजी भी वुरा न मानेंगे। इस में लजाने को कोई वात नहीं।"

राजा ने कहा—आप के पास गाय भी आई है और अव

मैं भी आ गया हूं। इसलिये आप गाय को तो दीजिये छोड़, और मुझे पेट मे रख कर अपनी भूख मिटाइये। मैं क्या मुंह लेकर गुरु से कहूंगा कि मैं नन्दिनी को नहीं बचा सका। सिंह ने समझाया कि इसके बदले में हज़ारों बढ़िया गायें देकर गुरु को मना लेना। पागल हुए हो, एक गाय के लिये अपने प्राण दिये देते हो। सारे राजपाट को धूल मे मिला देना कहाँ की बुद्धिमानी है?

अन्त में राजा ने सिंह को बातों मे हरा कर इस बात पर मना लिया कि वह गाय के बदले में इसकी देह खा ले। इसी समय तरकस पर चिपकी हुई उसकी उँगलियाँ भी छूट गईं। अपने हथियार दूर रख वह सिंह के आगे नीचे सिर कर ऐसे बैठ गया मानो मांस का लोथड़ा रक्खा हो। दिलीप समझ रहा था कि अब सिंह मेरे ऊपर झपटने ही वाला है कि इतने में ऊपर से फूल बरसने लगे।

नन्दिनी ने मीठे स्वर से कहा—"बेटा उठ बैठो, यह सब मेरी माया थी। ऋषि की तपस्या के बल से यमराज भी मेरी ओर आँख नहीं उठा सकते, साधारण पशुओं की तो बात ही क्या है! जो वरदान चाहो मुझसे माँग लो। मैं तुम पर प्रसन्न हूं। मुझे निरी दूध देनेवाली गाय मत समझो; मैं दूध भी देती हूं और वरदान भी।" जब दिलीप ने बेटे का मुंह देखने का वरदान माँगा तो नन्दिनी ने कहा कि पत्तों के दोने में मेरा दूध दुह कर पीलो, तुम्हारी इच्छा सफल होगी। इस पर

राजा ने कहा कि आप के दूध में सब से पहिले बछड़े का अंश है; फिर गुरुजी का और तब मेरा। क्षमा करना, मैं गुरुजी की आज्ञा बिना दूध नहीं पी सकता। इस चोखी बात पर वह और भी प्रसन्न हुई। शाम को आश्रम में पहुंच कर राजा ने गुरु वशिष्ठ को सब संवाद सुनाया। राजा ने दूध पिया। नन्दिनी के प्रताप से रानी सुदक्षिणा के रघु उत्पन्न हुए जिनसे साक्षात् इन्द्र की लडाई हुई। रघु के बेटे अज और अज के महाराज दशरथ हुए।

—बा० स०

पानी का फेरा

फेरा सभी के पीछे लगा है। आदमियों को देखिये, घर से बाहर जाते और घूम फिर कर फिर वहीं आ जाते हैं, हमारी देह का खून भी फेरे ही लगाया करता है; हमारी धरती माता सूरज के चारों ओर घूमा करती है, और कहाँ तक कहा जाय, यह पूरा संसार बराबर फेरे लगा रहा है। आज हम पानी के फेरे का हाल बतलाते हैं।

सागर ही पानी का घर माना जाता है। पानी, सागर से बाहर इधर उधर घूम फिर कर, फिर उसी में आ जाता है। कैसे? सुनिये—

जब कोई कपड़ा धूप में सुखाया जाता है तब उसका पानी

धीरे धीरे उड़ जाता है, और वह बिलकुल सूख जाता है। यह पानी कहाँ चला जाता है ? दूसरे रूप में बदल कर हवा में मिल जाता है। वह बिलकुल हवा ही के समान हो जाता है और तब हम उसे भाप कहने लगते हैं। गरमी के दिनों में सागर का बहुत सा पानी भाप बन जाता है।

भाप धीरे धीरे इतनी अधिक बन जाती है और हवा में इतनी अधिक भर जाती है कि हवा की सब गरमी धीरे धीरे दूर हो जाती है। इससे, कुछ तो हवा के अधिक गरम न रहने के कारण और कुछ अपने अधिक ऊपर उठ जाने के कारण भाप कुछ कुछ पानी अथवा बरफ के रूप में बदल जाती है। इस तरह की भाप जब हवा में बहुत भर जाती है तब ऊपर की ओर इसका घना समूह सा बन जाता है। भाप का यही घना समूह बादल कहलाने लगता है।

बादल जब तक बहुत भारी नहीं होते तब तक हवा इनको ऊपर उठाये रहती है। पर जब वे बहुत भारी हो जाते हैं तब नीचे गिरने लगते हैं। गिरते गिरते धरती के पास आकर ये पानी की बूँदों के रूप में बदल जाते हैं।

धरती पर गिरा हुआ पानी कुछ तो भाप बन कर उड़ जाता है, कुछ को ज़मीन सोख लेती है, और कुछ नाली, नाले, नदियों और नदों की राह सागर में मिल जाता है। जो भाप बनता है वह फिर मेघ बन कर बरस जाता है। ज़मीन का सोखा हुआ पानी भी घूम फिर कर सागर ही की ओर चला जाता

है। इसके समझने के लिये यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि ज़मीन के भीतर ही भीतर पानी की कई नालियाँ बहा करती हैं। इन्हीं नालियों से होकर पानी सदा बहा करता है। जब हम ज़मीन खोदते हैं तब कुछ दूर पर हमें पानी मिलने लगता है, यह पानी और कुछ नहीं इन नालियों ही का बहता हुआ पानी है। यही नालियाँ झरनों के रूप में और (कुओं) झीलों के रूप में हमें दिखाई देता है। घूम फिर कर ये भी सागर ही मे पहुचती हैं।

जिसको कुहरा कहते हैं वह और कुछ नहीं, केवल पास का बादल है। और बादल क्या है यह हम पहिले बतला ही चुके हैं। ओस भी कुछ नही, भाप का दूसरा रूप है। दिन में गरमी के कारण वह भाप बनी रहती है और रात में सरदी पाकर वही धीरे धीरे पानी बनने लगती है और तब हम उसे ओस कहने लगते हैं।

पस कुहरा, पाला, ओस, बादल आदि सब के सब भाप के दूसरे रूप हैं। भाप ही इन सब को बनाती है, और ये सब भी या तो फिर से भाप बनते या कई राहों से आकर फिर सागर में मिल जाते हैं। कहिये, देखा आपने पानी का फेरा?

—बा० स०

—

बर्फ़ीला समुद्र

पृथ्वी के उत्तर और दक्षिण छोरों को उत्तरी और दक्षिणी ध्रूव कहते हैं। इनका नाम मेरु भी है। यहाँ पर इतना अधिक जाड़ा है कि यहाँ के पास के समुद्र का जल भी जम जाया करता है और जम कर बर्फ का रूप धारण कर लिया करता है। इसके अलावा इन ध्रूवों के समीपवाले समुद्र में जो द्वीप हैं और उनमें जो पर्वत हैं उनके शिखरों से भी बर्फ के बड़े बड़े टोरे टूट कर समुद्र में गिरते और इकट्ठे हो जाया करते हैं। इन दो कारणों से मेरु के पास समुद्र में चिरकाल तक बर्फ जमा रहता है। यह कहना कठिन है कि यह बर्फ़ उन प्रदेशों के पास वाले समुद्र के जल को कितनी दूर तक घेरे रहता है।

उस प्रान्त में आने जाने वाले माझी कहा करते हैं कि एक ही रात में उस प्रान्त के समुद्र के ऊपर कई एक इञ्च बर्फ़ जम जाता है। इसी प्रकार एक बर्फ़ की तह के ऊपर दूसरी बर्फ़ की तह जम जाती है यहाँ तक कि कुछ ही दिनों में जिस जगह पहले अगाध समुद्र जल था वहाँ बर्फ़ का बड़ा पहाड़ सा देख पड़ने लगता है। समुद्र के ऊपर इतनी दूर तक यह बर्फ़ जमा होता है जितनी दूर में एक बड़ा देश बसाया जा सके। फिर जब पवन चलता है और उसके झकोरों से बर्फ़ के पहाड़ के सामने ऊँचे टुकड़े आपस में बार बार टकराते हैं तब उनके टकराने की आवाजों के सामने एक साथ चलाई सौ

सौ तोपों की गड़गड़ाहट भी तुच्छ जान पड़ती है। दुर्भाग्यवश ऐसे समय कहीं कोई जहाज़ जा पड़े तो वह उन टुकड़ों की टक्करों से पिस कर आटे की तरह हो जाता है। कभी कभी जहाज़ चारों ओर से बर्फ़ की टक्करों के बीच घिर जाता है और उस समय यदि उसमें काफ़ी रसद न हुई तो उसके मुसाफ़िरों को भूख से बे मौत अपनी जान गँवानी पड़ती है। जो लोग दूस्साहसपूर्वक उत्तर-ध्रूव की यात्रा करते हैं उनमें से बहुत ही कम लौट कर आते हैं। परम कारुणिक घटघटवासी विश्व-पति भगवान ने जो दया जलचर जीवों के प्रति दिखलाई है वह ध्यान देने योग्य है। सोचिये यदि जमे हुए जल अर्थात् बर्फ़ में इतना भारीपन हो जाता कि वह समुद्र के जल में उतरा नहीं सकता, तो अवश्य ही समुद्र-जल के भीतर रहनेवाले जल-जीव एक भी न बचते ; किन्तु ऐसा नहीं होता। बर्फ़ जल के ऊपर उतराया करता है और उसके नीचे जल में जल-जीव निरापद और आनन्द से घूमा फिरा करते हैं। एक बात और भी ध्यान देने योग्य यह है कि जिस प्रकार सूर्य की किरणों की गरमी से समुद्र का जल भाप बन कर उड़ता है और उस जल का नुनखरापन उस भाप के साथ नहीं उड़ पाता इसी प्रकार समुद्र के जल से बने बर्फ़ में भी नहीं आने पाता। शीत के प्रभाव से शीत प्रधान देशों के तालाबों के ऊपर ऐसा बर्फ़ जम जाता है कि तुम उस पर इस प्रकार जा सकते हो जिस प्रकार तुम पक्की सड़क पर चला करते हो। बर्फ़ से पटी नदियों के इस

पार से उस पार जाने के लिये नावों की अथवा पुलों की ज़रूरत नही पड़ती। याद रक्खो कि यह बर्फ़ जल के ऊपर ही उतराता है और उस के नीचे जल भरा रहता है और नदियों की धारा बर्फ़ के नीचे नीचे पूर्ववत् वहा करती है। कहते हैं कि सन् ४०७ ई० में कृष्णसागर पर बर्फ़ की तह जम गई थी और जल कहीं भी दिखाई नही पडता था। सन् ८६० ई० में डार्डनलीज़ नामक जल-प्रणाली के जल पर इतना बर्फ़ जम गया कि लोग इस पार से उस पार पैदल ही आया जाया करते थे। सन् ३२३ ई० में बाल्टिक समुद्र के दक्षिणी भाग में इतना बर्फ़ जमा कि कोपेनहेगन से लेकर डानज़िन तक लोग बराबर पैदल आया जाया करते थे। उत्तर के देशों में इतना अधिक शीत होता है कि तुम गरम पानी से हाथ धोकर पोंछने लगो तो भी तुम्हारे हाथ में लगा जल जम आवेगा। भगवान् की लीला का रहस्य भला कौन समझ सकता है।

—विश्व की विचित्रता

प्रबाल या मूँगा

प्रवाल नाम का एक लाल रङ्ग का ख़ास कीड़ा या कीट समुद्र में रहता है। संस्कृत-साहित्य में यह "रत्नवृक्ष" अथवा "स्फुटविद्रुम" के नाम से प्रसिद्ध है। इससे जान पड़ता है कि हमारे पूर्वपुरुष इसको उद्भिज सृष्टि में गिना करते थे। हमारे पूर्वज ही क्यों, अभी तक सारा संसार ही इसको उद्भिज

जातीय समझे हुए था। पर अब एक प्रकार का जीव माना जाने लगा है।

यह समुद्र में होता है और छत्ता बाँध कर इतना बढ़ता है कि इसके द्वारा समुद्र में टापू बन जाते हैं। इसके शरीर के भीतर से दूध सरीखा एक रस निकल कर उसके सारे शरीर मे लिपट जाता है। यह रस अपने आप ही कड़ा हो जाता है। यह इतना कडा और मज़बूत होता है कि समुद्र की लहरों के झकोरे भी इसका कुछ नही बिगाड़ सकते।

स्पंज की तरह जहाँ यह कीट उत्पन्न होता है वहीं मर भी जाता है और मरे हुए कीट पर दूसरा कीट अपना अधिकार जमा लेता है, जब वह मर जाता है तब तीसरा उस पर जम कर बैठ जाता है इस प्रकार धीरे धीरे वह अत्यन्त दृढ़ हो जाता है और उसका प्रबाल द्वीप बन जाता है। फिर समुद्र की तरंगे उसके ऊपर बालू ला कर पटकती हैं और उस बालू पर समुद्रों की लहरों से लाये हुए बीज जम कर कुछ दिनों में वृक्ष बन जाते हैं। धीरे धीरे वृक्षों पर पक्षी और जीवजन्तु भी पहुँच जाते हैं। फिर दूर दूर से मनुष्य भी वहाँ पहुँच कर और उस स्थान को आबाद कर के उसे देश बना देते हैं। मामूली छोटे छोटे कीड़ों द्वारा बड़े बड़े देशों का बन जाना क्या विश्वपति भगवान् की विस्मयकारिणी महिमा नहीं है? *

---

* वस्तुत. महिमा शब्द का रूप पुँल्लिङ्ग में होना चाहिए परन्तु हिन्दी में इसको स्त्रीलिङ्ग में प्रयुक्त करते हैं।

ऐसे प्रवाल द्वीप भारतमहासागर एवं भूमध्यसागर में बहुत हैं। कप्तान बीचि ने ३५ प्रवाल द्वीप गिने थे। इनमे सब से बडे की लम्बाई चौड़ाई २६ मील और छोटे की एक मील थी। इनमे से कोई कोई समुद्र के जल की सतह से बहुत ऊँचे भी हैं।

मालडेन नामक द्वीप की ऊँचाई ५७ हाथ है। गोम्बियर नामक द्वीपसमूह में कितने ही प्रवाल द्वीप हैं। इनमें से एक ८३२ हाथ ऊँचा है। देखो भगवान् की लीला कैसी विचित्र है।

—विश्व की विचित्रता

कोकिल

(१)

उडुगण क्षय भी हों; देखते भी कही हों
गत जब रजनी हो; पूर्व सन्ध्या बनी हो।
मृदुल मधुर निद्रा चाहता चित्त मेरा
नव पिक! करती तू शब्द प्रारम्भ तेरा॥

(२)

अति मधुर-रसीला शब्द है तू सुनाती
रसिक-जन सभी तू नींद से है जगाती।
मन-हरण सुनाके गान मीठी प्रभाती[1]
अलसित चित्त को भी नित्य ही तू लुभाती॥

---

[1] सवेरे का राग।

(३)

विहग सब सुनाते प्रायशः शब्द प्यारे
विविध विधि दिखाते शब्द-चातुर्य्य सारे।
कल-रव गति सब की भास होती बुरी है
जब पिक दिखलाती शब्द की चातुरी है॥

(४)

सरस-उपवनों में, वाटिका में, सदा ही
गिरि-सरित-तटों के प्रान्त में सर्वदा ही।
सुरभित- हरियाली है जहाँ, देखती तू
सु मधुर-मतवाली कूक को कूजती तू॥

(५)

पीती स्वयं है ; नहि तू पिलाती
प्रमत्त हो हो ध्वनि है सुनाती।
तथापि, उन्मत्त अहो ! बनाती
बता कहाँ मादक द्रव्य पाती॥

(६)

मिला अहो ! क्या सु-रसाल-डाल से ?
किंवा किसी गुञ्जित भृङ्गमाल से ?
न सर्वथा ही इनसे मिला तुझे
न दे दिखाई उनमें कभी मुझे॥

(७)

मिला तुझे है ऋतुराज से यह ?
अवश्य देता सब को न है वह।
मिले न तेरी समता उसे कहीं
मिली प्रिया तू उसको अलभ्य ही॥

(८)

वसन्त जाता जब है यहाँ से
नहीं किसी को ध्वनि तू सुनाती।
उत्कण्ठ हो के सब ढूंढते हैं
नहीं कही भी पर तू दिखाती॥

(९)

प्रिय-विरह-दशा में देह क्या तू छिपाती ?
सु-ललित वह वानी जो नहीं तू सुनाती॥
सच कह, यह बातें क्या नहीं याद आतीं ?
"परभृत" अपना तू नाम भी भूल जाती ?

(१०)

वसन्त के आगम में सहर्ष
मीठे सुरीले सुर बोलती है।
जहाँ तहाँ तू उनको सुनाके
देती बधाई नित डोलती है।

(११)

अवश्य तू प्रावृट[1] में वही ध्वनि
अहा ! सुनाती रस से भरी हुई ।
प्रफुल्ल देखै वन कुञ्ज तू सभी
वसन्त का ही भ्रम हो तुझे तभी ॥

(१२)

महा रसीली रस से भरी हुई
वानी प्रिये ! तू जब बोलती है ।
दशा वियोगी जन की सुदुःखदा
कभी नहीं तू तब सोचती है ।

(१३)

अवश्य है तू अति मञ्जुभाषिनी
अतः सभी का मन मोहती है ।
परन्तु क्या तू निज कृष्ण रूप को
भला कभी भी कुछ सोचती है ?

(१४)

कवि-जन गुण तेरे नित्य गाते, तथापि
अति परिचय से तू हो न फीकी कदापि ।
अब अधिक कहें क्या ! मान काफ़ी यही तू
अनुपम-गुण-वाली भाग्यशाली बड़ी तू ॥

—कन्हैयालाल पोद्दार

---

१ वर्षा ।

दशरथ-विलाप

कहाँ हो ऐ हमारे राम प्यारे।
किधर तुम छोड़ कर मुझको सिधारे॥
बुढ़ापे मे यह दुख भी देखना था।
इसी के देखने को मैं बचा था॥
छिपाई है कहाँ सुन्दर वो मूरत।
दिखा दो साँवली सी मुझको सूरत॥
छिपे हो कौन से परदे में बेटा।
निकल आओ कि अब मरता है बुड्ढा॥
बुढ़ापे पर दया मेरे जो करते।
तो वन की ओर क्यों तुम पैर धरते॥
किधर वह वन है जिसमें राम प्यारा।
अजुध्या छोड़ कर सूना सिधारा॥
गई संग में जनक की जो लली है।
इसी से मुझको ज्यादा बेकली है॥
कहेंगे क्या जनक यह हाल सुन कर।
कहाँ सीता कहाँ वन वह भयङ्कर॥
गया लछमन भी उनके साथ ही साथ।
तड़पता रह गया मैं मलते ही हाथ॥
मेरी आँखों की वह पुतली कहाँ है।
बुढापे की मेरी लकड़ी कहाँ है॥

कहाँ ढूँढूं मुझे कोई बता दो।
मेरे बच्चों को बस मुझसे मिला दो॥
लगी है आग छाती में हमारे।
बुझाओ कोई उनका हाल कह के॥
मुझे सूना दिखाता है ज़माना।
कहीं भी अब नहीं मेरा ठिकाना॥
अँधेरा हो गया घर हाय मेरा।
हुआ क्या मेरे हाथों का खिलौना॥
मेरा धन लूट कर के कौन भागा।
भरे घर को मेरे किसने उजाड़ा॥
हमारा बोलता तोता कहाँ है।
अरे वह राम सा बेटा कहाँ है॥
कमर टूटी न बस अब उठ सकेंगे।
अरे बिन राम के रो रो मरेंगे॥
कोई कुछ हाल तो आकर के कहता।
है किस बन में मेरा प्यारा कलेजा॥
हवा और धूप में कुम्हला के थक कर।
कहीं साये में बैठे होंगे रघुबर॥
जो डरती देख कर मट्टी का चीता।
वो बन बन फिर रही है आज सीता॥
कभी उतरी न सेजों से ज़मीं पर।
वो फिरती है पियादे आज दर दर॥

न निकली जान अब तक बे हया हूँ ।
भला मैं राम बिन क्यों जी रहा हूँ ॥
मेरा है वज्र का लोगो कलेजा ।
कि इस दुख पर नहीं अब भी ये फटता ॥
मेरे जीने का दिन बस हाय बीता ।
कहाँ हैं राम लछमन और सीता ॥
कहीं मुखड़ा तो दिखला जाय प्यारे ।
न रह जाये हविस जी में हमारे ॥
कहाँ हो राम मेरे राम ऐ राम ।
मेरे प्यारे मेरे बच्चे मेरे श्याम ॥
मेरे जीवन मेरे सरबस मेरे प्रान ।
हुए क्या हाय मेरे राम भगवान ॥
कहाँ हो राम हा प्रानों से प्यारे ।
यह कह दशरथ जी सुरपुर को सिधारे ॥

—'(भारतेन्दु) हरिश्चन्द्र'

हम दीर्घजीवी कैसे हो सकते हैं ?

मनुष्य के शरीर का अन्त मृत्यु है। जब शरीर किसी कारण से प्राण-वायु के धारण करने में असमर्थ हो जाता है, तब मनुष्य मर जाता है। शरीर को दुर्बलता से बचाने और ऐसे ही नियमों पर चलने से जो हमारे शरीर की जीव-शक्ति को

लाभकारी हैं, मनुष्य अधिक काल तक जीवित रह सकता है। मरना जीना ईश्वर के अधीन है। यह ठीक है, परन्तु तौभी परमात्मा ने मनुष्य की वुद्धि को ऐसी क्षमताशालिनी वनाया है कि उसके द्वारा विचार कर व्यवहार करने से मनुष्य अधिक काल तक जीवित रह सकते हैं। हमारे पूजनीय ऋषियों ने योगविद्या का आविर्भाव कर के स्वास्थ्यविद्या का प्रबल ज्ञान प्राप्त किया था। अमेरिका और यूरोप में दीर्घ जीवन कैसे प्राप्त हो सकता है इस विषय में अच्छी अच्छी पुस्तकें लिखी गई हैं। जर्मनी के प्रसिद्ध डाकृर डूय फिलेटाड तथा और और महाशयों ने गत शताब्दी मे इस विषय पर अपने अच्छे विचार प्रकट किये हैं।

जीवन वढ़ाने की कला में और डाकृरी या वैद्यक में वड़ा अन्तर है। वैद्यक के द्वारा मनुष्य को आरोग्यता प्राप्त हो सकती है। जीवन वढ़ाने की कला दीर्घ जीवन दान करती है। अनेक औषधियों के सेवन करने से मनुष्य तात्कालिक स्वास्थ्य लाभ कर सकता है परन्तु उसके जीवन की डोरी कट कट कर घट जाती है। इस कला के विचार से अनेक रोग ऐसे हैं जिनके होने से मनुष्य की आयु वढ़ती है।

इसके नियम ऐसे तत्वों पर स्थिर हैं जो विज्ञ मनुष्यों की वुद्धि से जीवशक्ति के लिए लाभकारी सिद्ध हैं। नीचे ऐसे ही विचारों को लिखा जाता है जो इस जीवन के वढ़ाने की कला के मर्म्मज्ञों ने वर्षो के श्रम और अनुभव से प्राप्त किये हैं।

यह सब नियम स्वास्थ्यवर्द्धक और शरीर को दृढता देनेवाले हैं। शरीर की और आत्मा की दृढ़ता ही से मनुष्य दीर्घजीवी बन सकता है। मनुष्य में जो जीवशक्ति व्याप्त है वह प्रकृति की सब शक्तियोँ से अधिक बलवती है। कुछ ऐसे कारण है जिनसे यह शक्ति हीन और नष्ट हो जाती है। उन कारणोँ से मनुष्य को अपनी जीवशक्ति की रक्षा करनी चाहिए। सर्दी सब से भयानक शत्रु है। थोड़ी सी सर्दी हमारे जीवशक्ति को बल देती है ; किन्तु उसकी अधिकता अनिष्टकारी है ! सर्दी में कोई भी जीव प्रफुल्लित नहीं होता न उसमें अण्डा फूटता है और न अनाज पक सकता है।

हमारे जीवन के सच्चे मित्र यह है, प्रथम रोशनी, द्वितीय हवा, तृतीय गर्मी। जहाँ जीवन है, वहीं गर्मी भी है। उष्णता जीवन देती है और जीवन को उत्तेजित करती है और इन दोनोँ मे ऐसा सम्बन्ध हैं कि हम नहीं कह सकते कि इनमें से कौनसा कार्य्य हैं और कौनसा कारण है ? वृक्षावली में देखा जाता है कि वे ही पेड़ अधिक काल तक स्थिर रहते हैं, जो बड़े दृढ़ और कड़े होते हैं, जैसे बबूल, नीम, पीपल, शीशम ; छोटे वृक्ष और पौधे थोड़ी ही आयु पाते हैं। इससे परिणाम निकाला जा सकता है कि वे ही मनुष्य अधिक आयु प्राप्त कर सकते हैं जो दृढ बलवान् हैं, इससे मनुष्योँ को अपने शरीर को बलिष्ठ और परिश्रमी बनाना अपनी आयु बढ़ाना है ; दुर्बल और आलसी अधिक काल तक नहीं जी

सकते। बचपन में वैवाहिक सम्बन्ध करना अनर्थकारी है। हमारे पुरखा बड़ी आयु तक ब्रह्मचर्य्य रखते थे इसलिए वे दीर्घजीवी होते थे।

ऐसे मनुष्य जो दीर्घजीवी हुए हैं उनके जीवन की रहन-सहन से पता लगता है कि उनका जीवन सरल रूप से व्यतीत होता था। वे लोग साधारण भोजन करते थे। बिना भूख लगे खाते न थे, नशा का सेवन नहीं करते थे, चिन्ताओं से कम घिरे रहते थे। एक बड़े बूढ़े ने मरते समय अपने मित्रों से कहा था—लो दोस्तो अब मैं जाता हूँ, मेरा दुनिया का खेल सब ख़तम होता है। फिलासफ़र डैमोनक्स जब मरने लगा तब उसकी आयु सौ वर्ष से अधिक थी। उसके बान्धवों ने पूछा कि आपका अन्त समय है आप बतलाइये कि आपकी अन्त्येष्टिक्रिया कैसे करें? फिलासफ़र डैमोन ने उत्तर दिया—इस विषय की कुछ चिन्ता न करो, गन्ध मेरे मृत शरीर की अपने आप अन्त्येष्टि-क्रिया कर देगी। बान्धवों ने कहा कि क्या आप की यह इच्छा है कि आपके शरीर को कुत्ते और चील खा जावें? फिलासफ़र ने कहा—क्यों नहीं? मैंने इस शरीर द्वारा अपने जीवन में मानव-जाति की सेवा की हैं। मैं अपने मृत शरीर से पशु-पक्षियों का कुछ उपकार कर सकूँ तो कुछ अच्छा ही है। ऐसे उच्च विचारों के शुद्ध-हृदय और प्रसन्न चित्तवाले लोग बहुधा दीर्घ जीवन लाभ करते हैं।

जिन स्थानों का जल वायु स्वास्थ्यदायक न हो वहाँ नहीं

रहना चाहिए। समुद्रवासी जन बहुधा दीर्घजीवी देखे गये हैं। स्वास्थ्य, शरीर, स्वभाव, भोजन इन पर मनुष्यों की आयु बहुत निर्भर है।

प्लीनी नाम का विद्वान् लिखता है कि साधारण भोजन सब से उत्तम है ? क्योंकि बढ़िया और चिकना भोजन बहुधा अनेक रोग उत्पन्न करनेवाला होता है। गाँव में रहना तथा छोटी बस्तियों में रहना जीवन को धीरता देनेवाला है। इस विचार से बड़े शहरों में रहना बुरा है और स्वास्थ्यकर कभी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि बड़े शहरों का जल-वायु वैसा स्वच्छ नहीं होता। सब से बड़ी बात यह है कि मनुष्यों को अपने जीवन में प्रकृति के नियमों पर बड़ा ध्यान रखना चाहिए। इसके नियम पालन से मनुष्य का बड़ा कल्याण होता है। प्रकृति के नियम तोड़ने से मनुष्य बड़ी विपत्ति में फस जाता है। यह एक ऐसी बात है जिसको सब विद्वानों ने माना है। यदि तुम भूखे न हो तो मत खाओ। यदि ठण्ड लगती हो तो कपड़ा पहिन लो नही तो ठण्ड लगने से हानि होगी। मनुष्य को युवावस्था मे परिश्रमी बनना चाहिए। बुढ़ापे में शान्तिप्रिय होना चाहिए। किसी भी आलसी ने दीर्घायु नहीं पाई है। मनुष्य की जीव-शक्ति तथा उसके शरीर का गठन इस योग्य है कि यदि उसका सदुपयोग किया जाय तो मनुष्य निस्सन्देह १०० सौ वष तक जी सकता है, यह आयु तब सम्भव है।

निस्सन्देह मनुष्य सांसारिक दृष्टि में मुकुटमणि है। प्रकृति की पूरी योग्यता इसकी वनावट में प्रकाशित होती है।

—हिन्दी-निवन्ध-शिक्षा।

सत्यपरायणता

१—"सत्य से बढ़ कर दूसरा धर्म नही है।"

२—"सत्य बोले, प्रिय बोले; किन्तु अप्रिय सत्य भी न कहे।"

आहा! जिस समय महाराज हरिश्चन्द्र की सत्यपरायणता की कथा का स्मरण आता है उस समय आनन्द की सीमा नही रहती।

महाराज हरिश्चन्द्र को मृगया खेलने का वड़ा चाव था। आप जब अपने राज-काज से अवकाश पाते थे तभी मृगया खेलने के लिये चल दिया करते थे। हरिश्चन्द्र का यह दृढ़ सिद्धान्त था कि :—

"चन्द्र टरै सूरज टरै,
टरै जगत व्यवहार।
पै दृढ़-व्रत हरिश्चन्द्र को,
टरै न सत्य विचार॥"

अस्तु, इसी से लोग समझ सकते हैं कि वे कैसे दृढ़-प्रतिज्ञ सदाशील और सत्यपरायण महान् पुरुष थे। एक दिन महाराज हरिश्चन्द्र आखेट खेलने के लिए वन में गये और बनैले सुअर

का पिछा करते करते एक सघन वन में जा पहुँचे। वहाँ पर उन्हें किसी के विलख विलख कर रोने का शब्द सुनाई पड़ा। उसी आधार पर वे वेग से बढ कर उसी स्थान पर जा पहुँचे, जहाँ से वह रोने का शब्द आ रहा था। वहाँ वे क्या देखते हैं कि एक ऋषि के तपोवन में कई एक स्त्रियाँ एक पेड़ से बँधी हुई रो रही हैं। हरिश्चन्द्र को देखते ही वे कहने लगीं कि महाराज, हमारी हीन दशा पर दया करके हमारी रक्षा कीजिये। असहाय स्त्रियों के ऐसे दीन वचन सुन कर राजा हरिश्चन्द्र का सुकोमल हृदय दया से भर गया। इसलिए उन्होंने विना कुछ सोचे विचारे उन स्त्रियों को वन्धन से मुक्त कर दिया और आप पुनः अपनी राजधानी अयोध्यापुरी को लौट गये। हरिश्चन्द्र ने जिस मुनि के तपोवन में जाकर उन स्त्रियों को वन्धन से छुड़ाया था वह ऋषिराज विश्वामित्र का आश्रम था। जव मुनि विश्वामित्र अपने आश्रम में आये और उन्होंने उन स्त्रियों को बँधा हुआ न पाया तव उन्होंने अपने दिव्य योगवल द्वारा ध्यान करने से जाना कि महाराज हरिश्चन्द्र ने आकर उन्हें वन्धन से छुड़ा दिया है, निदान ऐसा जान कर मुनि विश्वामित्र उसी समय अयोध्यापुरी में पहुंचे और महाराज हरिश्चन्द्र की राज-सभा में जाकर उनको वहुतेरा धिक्कारा। तव महाराज हरिश्चन्द्र कहने लगे कि "भगवान् मैं आपसे इस अपराध के लिए क्षमा माँगता हूँ। आप मुझे क्षमा करें। मेरे इस अपराध के परिवर्तन में आप जो कुछ कहें सो मैं देने के लिए तैयार हूँ।" इस वात को सुन

कर विश्वामित्र बोले कि अच्छा तुम अपनी कुल सम्पदा धन और राज्य दे दो। हरिश्चन्द्र ने इसे स्वीकार कर लिया। परन्तु इतने पर भी विश्वामित्र की इच्छा पूरी न हुई इसलिये वे बोले कि इतने बड़े दान की दक्षिणा ७ करोड़ मोहरें अभी मिलनी चाहिए। यह सुन कर महाराज हरिश्चन्द्र बहुत घबराये कि इतनी मोहरें कहाँ से दी जावेंगी। खज़ाने में इससे सैकड़ों गुना अधिक स्वर्ण भरा हुआ है किन्तु वह तो मेरा है ही नहीं, क्योंकि मैं तो सवस्व दान कर चुका हूँ। बहुत देर तक सोच विचार करने के पीछे राजा ने कहा, "महर्षि! आप मेरे ऊपर दया करके मुझे एक महिने का समय दीजिये जिसमें मैं परिश्रम से धन पैदा करके, आप के ऋण से उऋण हो सकूँ।" विश्वामित्र ने राजा हरिश्चन्द्र को एक मास का समय तो दिया, किन्तु यह भी कह दिया कि जिस तरह हो तुम को एक महीने मे दक्षिणा अवश्य ही देनी होगी। अब हमारे राजसिंहासन को छोड़ कर तुम्हारी जहाँ इच्छा हो जाओ। इतना कह कर विश्वामित्र चले गये। इधर महाराज हरिश्चन्द्र ने भी महर्षि विश्वामित्र की आज्ञानुसार उसी रात को विना किसी से कहे सुने, स्त्री-पुत्र के सहित काशीपुरी की ओर यात्रा की।

राजा हरिश्चन्द्र काशी में आकर बहुत दुखी हुए। यथा-साध्य चेष्टा करने पर भी वे मोहरों का कोई उचित प्रबन्ध न कर सके। अन्त में रुपये देनेवाली तिथि भी आ गई। लाचार महाराज हरिश्चन्द्र अपनी स्त्री शैव्या को साथ लेकर काशी की

सड़कों पर बाज़ारों में पुकारते फिरने लगे। वे चिल्ला कर यह कहते जाते थे—"किसी को दास दासी मोल लेना हो तो लो।" उस समय एक बुड्ढे ब्राह्मण ने आकर तीन करोड़ मोहरें देकर रानी शैव्या को मोल ले लिया। जिस समय ब्राह्मण रानी शैव्या को ले कर चला उस समय राज-पुत्र रोहिताश्व अपनी माँ को नही छोडता था और पल्ला पकड़ कर रोता था। तब बड़ी दीनता के साथ शव्या ने उस ब्राह्मण से कहा, क्या आप इस बालक को संग ले चलने की मुझे आज्ञा देंगे? आप को इसके भोजनादि का प्रबन्ध नही करना पड़ेगा। आप जो कुछ मुझे देंगे हम दोनों उसी में अपना निर्वाह कर लेंगे।

ब्राह्मण ने यह बात स्वीकार कर ली और महारानी शैव्या दासी बन कर रोहिताश्व को लिये रोती हुई ब्राह्मण के आश्रम में पहुँची। इधर महाराज हरिश्चन्द्र शेष चार करोड़ मोहरों के बदले अपने को बाज़ार में इधर उधर बेचने के लिए फिरने लगे। अन्त में एक चाण्डाल ने आकर चार करोड़ मोहर देकर उन्हें भी मोल ले लिया।

चाण्डाल के घर दास बन कर रहते हुए महाराज हरिश्चन्द्र को सीमा से अधिक कष्ट होने लगा। क्योंकि चाण्डाल ने जो काम इनके सुपुर्द किये थे, वे बड़े ही घृणित और वीभत्स थे। किन्तु इसमें हरिश्चन्द्र का चारा ही क्या था? क्योंकि इन्होंने तो अपने को बेच ही दिया था।

दिन रात जो मुर्दे श्मशान में आते उनसे कफ़न और कर

के पैसे उगाहना बडा ही नीच काम था। इस नीच काम को करते महाराज के चन्द्रमुख की कान्ति भी पहिले जसी न रही। अयोध्यापुरी के धमपरायण राजा ने सत्य पालन के हेतु, चाण्डाल के घर नीच अवस्था में रहना भी स्वीकार कर लिया, परन्तु सत्य और धैर्य्य को न त्यागा।

उधर महारानी शैव्या राजकुमार रोहिताश्व को लेकर ब्राह्मण के घर में टहलनी का काम करने लगी। रोहिताश्व ब्राह्मण की पूजा के लिये फूल लेने को गया, तो वहाँ उसे एक विषले सप ने डस लिया, जिससे वह उसी समय मर गया।

शैव्या अपने इकलौते पुत्र को खोकर मूच्छित होकर गिर पड़ी, किन्तु वे तो दासी थीं, उन्हें अपने इस दारुण शोक के लिये रोने की स्वतन्त्रता ही कहाँ थी जो वे रोकर अपने दुःख को हलका करतीं। उसी समय वृद्ध ब्राह्मण ने आज्ञा दी कि मुर्द को अभी ले जाओ। सच है—"जिसके पैर न फटे बिवाई, वह क्या जाने पीर पराई।"

महारानी शैव्या रोती रोती उठी और मृत पुत्र को हाथों पर उठा कर, श्मशान पर ले गईं। यह वही श्मशान-भूमि थी जिस पर राजा हरिश्चन्द्र पहरा देते थे। अन्धेरे पक्ष की रात थी और बादल घिरे हुए थ। उस समय राजा हरिश्चन्द्र अपनी अवस्था पर विचार कर रहे थे, कि अचानक किसी के रोने का शब्द उनके कान में पड़ा जिसके सुनते ही उनका मन डोल गया। वे उठे और शैव्या के पास जाकर उससे "कर" माँगा।

दवात् उसी समय आकाश में बिजली भी चमकी, उसके प्रकाश में शैव्या ने महाराज को पहिचान लिया और रोते रोते कहा—"महाराज आप क्या देखते हैं? रोहित को सर्प ने डस लिया है। यह उसी का मृत शरीर ह।" यह सुन कर उस समय महाराज को जो कुछ दुःख हुआ होगा, उसको हम लोग स्वयं अनुमान कर सकते हैं। किन्तु इतना होने पर भी महाराज ने शव्या से कहा—"हमारे स्वामी का कर देकर तुरन्त मृतक्रिया करो।" यह सुन कर शव्या और भी रोने लगी। वह वोली—"महाराज! मेरे पास कुछ है ही नही, मैं क्या दू। अच्छा मैं आधी धोती फाड कर देती हू।"

यह कह कर जैसे ही शव्या ने धोती फाड़कर देनी चाही, वसे ही साक्षात् भगवान् ने उनके सत्यव्रत पर अटल रहने के कारण प्रसन्न होकर, उन्हें वहीं दर्शन दिये और अमृत द्वारा रोहित को भी प्राण दान दिया।

महाराज हरिश्चन्द्र का अद्भुत सत्यानुराग देख कर विश्वामित्र ने इनके राज्य को भी आशीर्वाद पूर्वक लौटा दिया। ऐसे भयानक बुरे समय में सत्य के पथ पर अटल रह कर महाराज हरिश्चन्द्र के सत्य की महिमा यह घोषणा कर रही है—"सत्य ही की जय होती है, झूठ की नहीं।"

—हरिश्चन्द्र।

कृषक लोगों का परिश्रम

(१)

बरसा रहा है रवि अनल, भूतल तवा सा जल रहा,
है चल रहा सन सन पवन, तन से पसीना ढल रहा।
देखो, कृषक शोणित सुखा कर, हल तथापि चला रहे,
किस लोभ से इस आँच में वे निज शरीर जला रहे॥

(२)

मध्याह्न, उनकी स्त्रियाँ ले रोटियाँ पहुची वही,
है रोटियाँ रूखी, ख़बर है शाक की उनको नही।
सन्तोष से खाकर उन्हें वे काम में फिर लग गये,
भर पेट भोजन पा गये तो भाग्य मानों जग गये॥

(३)

घनघोर वर्षा हो रही है, गगन गर्जन कर रहा,
घर से निकलने को कड़क कर वज्र वर्जन कर रहा।
तो भी कृषक मैदान में करते निरन्तर काम हैं,
किस लोभ से वे आज भी लेते नहीं विश्राम हैं?

(४)

बाहर निकलना मौत है, आधी अँधेरी रात है,
आः शीत कैसा पड़ रहा है, थरथराता गात है!
तो भी कृषक ईंधन जला कर, खेत पर हैं जागते,
वह लाभ कैसा है न जिसका लोभ अब भी त्यागते॥

—मैथिलीशरण गुप्त।

मोती

अक्सर लोग जानते होंगे कि मोती एक प्रकार की सीपों अथवा घोंघों में उत्पन्न होते हैं। जिन सीपों में मोती उत्पन्न होते हैं, वे समुद्र की तली में रहती हैं। लङ्का के पास अमेरिका के एक टापू के पास और चीन सागर में मोती की सीप वहुतायत से पाई जाती हैं। जिस समय वे सीपियाँ, जिनमें मोती उत्पन्न होते हैं, समुद्र में इधर उधर घूमती हैं, उस समय समुद्र की बालू के कण उनके शरीर के मास वाले अंगों में घुस कर उनको कष्ट पहुँचाते हैं। उस समय सीपी से एक प्रकार का रस निकलता है जिसको अंगरेज़ी में 'कैलकेरिया' कहते हैं। इस रस को उस वालू के कण ढाँक लेते हैं और तब वह रस जम कर कड़ा हो जाता है और वही मोती वन जाता है।

चीन के लोग हिकमती प्रसिद्ध हैं। वे कृत्रिम उपायों से मोती स्वयं बना कर तैयार कर लिया करते हैं। वे सीपियों को पकड कर उनके बीच में ताँबे की छोटी छोटी गोलियाँ डाल देते हैं। कभी कभी वे बड़ी छोटी बुद्धदेव की ताँबे की मूर्त्ति बना उस सीप में डाल दिया करते हैं। कुछ ही दिनों के बाद उन ताँबे की गोलियों या मूर्त्ति पर मोती जैसी आव आ जाती है। बुद्धदेव की ऐसी ही मोती की एक मूर्त्ति कलकत्ते के आजायब घर में रखी हुई है।

मोती एक छोटी चीज़ होने पर भी कभी कभी उसका इतना अधिक मूल्य होता है कि उसे सुन दाँत तले अंगुली दबानी पड़ती है। कहते हैं रोम के सम्राट् जूलियस सीज़र ने अपने बन्धु ब्रुटस की माता को जा मोती भेंट किया था, उसका मूल्य २८ हज़ार ५ सौ ७१ गिनी था। यह मोती अमेरिका के पास समुद्र में मिला था।

अमेरिका देश के आदि निवासी मोतियों की मालायें तो पहनते थे, परन्तु वे मोतियों का मूल्य नहीं जानते थ। कोलम्बस साहब ने पहले पहल अमेरिका का पता लगाया था। जब वे सब से पहली बार उस देश में पहुच, तब उनके एक नौकर ने एक टूटे चीनी के बर्तन के बदले अमेरिका के आदि निवासियों की एक स्त्री से पाँच छः लरों की एक मोती की माला पाई थी।

नक्ली मोती बनाने की कई एक तरकीब हैं। उनमें से एक यह है। एक प्रकार की मछली के शरीर के छिलके से बहुत सा कलकेरिया चूण निकलता है। इस चूण को मोम के साथ विधिपूर्वक मिला कर रखने से चमकता हुआ बनावटी मोती तैयार हो जाता है। इन बनावटी मोतियों का भी रोजगार दुनिया में बहुत चढ़ा बढ़ा है।

ग़ोताख़ोर जिस उपाय से समुद्र के भीतर जाकर मोती की सीप निकालते हैं, वह सुनने योग्य है। ग़ोताख़ोर लोग लड़कपन ही से जल के भीतर रहने की आदत डालते हैं। जो अच्छे

गोताख़ोर या पनडुब्बे हैं, वे दो से पाँच मिनिट तक जल के भीतर रह सकते हैं। इनको मोती के व्यापारी या तो अच्छा वेतन देते हैं या मोती के व्यापार में इनको साझी बना लेते हैं। लंकावाले पनडुब्बे नावों मे बैठ टोली बाँध कर जाते हैं। हर एक नाव पर बीस आदमी बठते हैं। इन बीस में दस माँझी और दस पनडुब्बे होते हैं। पनडुब्बे बार बार ग़ोता लगाते हैं, पर हर बार मोती की सीपें उनके हाथ नहीं लगती। गोता मारने के समय पनडुब्बे दहिने हाथ मे सीपें रखने का जाल और बाए हाथ में नाव की रस्सी थामे रहते हैं। वे तुरन्त जल के भीतर चले जायँ इस लिये बाए पाँव की उँगली में वे एक भारी पत्थर का टुकडा एक रस्सी से अटका लिया करते हैं। जल की तली में पहुँच कर पनडुब्बे जल्दी जल्दी सीपी बटोर कर जाल में रखते हैं और हाथ की रस्सी से नाव वालों को संकेत देते हैं। संकेत पाते ही नाव वाले उन्हें झट ऊपर खींच लेते हैं।

पनडुब्बों का काम बड़ी जोखों का है। जल के हिंसक जानवरों के हमले का बड़ा डर रहता है। पनडुब्बे इन जीवों से अपने को बचाने के लिये एक लकडी अपने पास रखते हैं और जब कोई ऐसा जीव उनकी ओर लपक कर आता है, तब वे उस लकड़ीको उसके मुह में ठूँस देते हैं। वह जानवर जब उस लकड़ी को चबाने लगता है, तब पनडुब्बे फुरती से उसके फन्दे से निकल भागते हैं। इतनी चतुराई करने पर भी कभी कभी पनडुब्बे इन जानवरों के शिकार बन ही जाते हैं।

जब पनडुब्बे को चालीस पचास हाथ गहरे पानी के नीचे जाना पड़ता है, तब कभी कभी जल के बोझ से बाहर निकलने पर इनके मुँह और नाक से खून निकलने लगता है। और कभी कभी तो अधिक खून निकल आने के कारण इनको अपनी जान ही गँवा देनी पड़ती है।

मोती की सीपी निकालने या निकलवाने वालों को सरकार को टैक्स (कर) भी देना पड़ता है। यह लोग एक ही जगह हर साल सीपी नहीं निकालने पाते। यह नियम इस लिये रक्खा गया है कि जिससे सीपियों की बढ़ती बन्द न होने पावे।

विश्व की विचित्रता

रामायण की कथा

(१)

सूर्यवंशी राजाओं में सब से पहिले राजा इक्ष्वाकु हुए जिन्हों ने सरयू के किनारे अयोध्या को अपनी राजधानी बनाया। उनहीं के वंश में महाराज दशरथ बड़े प्रतापी हुए। उनकी कौशल्या, सुमित्रा और कैकेयी ये तीन रानियाँ थीं। जब उन तीन रानियों में से किसी के भी कोई बालक न हुआ और राजा दशरथ को भी बुढ़ापे ने आ घेरा तो कुल के नाश के डर से दुखी और उदास हो उन्होंने अपने कुलगुरु महर्षि वशिष्ठ की आज्ञा से शास्त्रानुसार पुत्रेष्टि नामक यज्ञ किया। ईश्वर की

इच्छा से यज्ञ के समाप्त होने पर तीनों रानियाँ गर्भवती हुईं। यथासमय बड़ी रानी कौशल्या के गर्भ से चैत सुदी नवमी बुधवार को मध्याह्न के समय श्रीरामचन्द्र प्रकट हुए, उसी के सवेरे दशमी को कैकेयी के गर्भ से भरत पैदा हुए और उसके दूसरे दिन एकादशी को सुमित्रा के गर्भ से दो बालक हुए जिनमें बड़े का नाम लक्ष्मण और छोटे का शत्रुघ्न रक्खा गया।

समय पाकर जब वे चारों राजकुमार सयाने हुए तो रूप, गुण, बल, बुद्धि, और विद्या में उनके समान कोई न था। यों तो चारों भाइयों में परस्पर बड़ा ही स्नेह था, पर राम और लक्ष्मण में तथा भरत और शत्रुघ्न में विशेष कर परस्पर बड़ी प्रीति थी। रामचन्द्र अपने तीनों भाइयों को जैसा प्यार करते थे वे तीनों भी उसी भाँति उन्हें बड़ा भाई मान कर उन पर श्रद्धा और भक्ति रखते थे।

महाराज दशरथ ने अपनी वृद्धावस्था में भी पुत्रों को केवल लाड़चाव में नष्ट न होने दिया वरन् उन्हें भली भाँति शस्त्र, शास्त्र आदि विद्या तथा कला-कौशल की पूरी शिक्षा दी। वे अपने चारों पुत्रों को शील, गुण, बल, विद्या और बुद्धि के निधान जानकर एक दिन पुरोहित मंत्री तथा मंत्रिवर्ग के साथ सभा में बैठे हुए अपने पुत्रों के विवाह की चर्चा कर रहे थे कि इतने ही में द्वारपाल ने आकर महर्षि विश्वामित्र के आने की ख़बर दी। यह सुनते ही राजा ने अपने मंत्रियों के साथ द्वार तक जाकर विश्वामित्र की अगवानी की और उन्हें बडे आदर से सभा

में लाकर आसन पर वेठाया। परस्पर कुशल प्रश्न होने के पीछे विश्वामित्र ने दशरथ से कहा, "राजन्! जिस तपोवन में हम लोग रहते और तपस्या तथा यज्ञादिक धम कम करते हैं। वहाँ पर आज कल कई राक्षसों ने बड़ा उपद्रव मचाया है। ये समय समय पर हम लोगों की यज्ञशाला को रुधिर वर्षा कर अपवित्र कर देते हैं जिससे यज्ञ नष्ट हो जाता है। यदि हम लोग चाह तो उन दुष्टों को बात की बात में भस्म कर दें पर ऐसा इसलिये नही कर सकते कि यज्ञ का अनुष्ठान कर क्रोध करना अनुचित है। इससे यज्ञ का फल नष्ट हो जाता और तपस्या बिगड़ जाती है। इसलिये हम चाहते हैं कि आप थोड़े दिनों के लिये अपने परम पराक्रमी प्रिय पुत्र राम और लक्ष्मण को हमारे साथ कर दीजिये और इसमे किसी बात की चिन्ता न कीजिये। यद्यपि ये अभी सुकुमार बालक हैं तो भी हमारे यज्ञ की रक्षा करने में समथ होंगे।" महर्षिकी ऐसी बात सुनकर राजा का वीर हृदय दहल उठा। उन्होंने ऋषि से बहुत कुछ विनती कर कहा कि राम और लक्ष्मण के बदले हमको वा हमारी सब सेना ले जाइये पर उन्होंने एक न मानी। तब कुलगुरु वशिष्ठ के बहुत समझाने बुझाने और धीरज धराने पर राजा ने अपने प्राण से प्यारे दोनों कुमारों को विश्वामित्र के साथ विदा किया और वे दोनों भाई भी बड़ी प्रसन्नता से उनके साथ तपोवन में गये।

विश्वामित्र के पहुचने पर आश्रमवासी ऋषियों ने ज्यों ही यज्ञ आरम्भ किया, त्यों ही ताड़का नाम की राक्षसी आकर यज्ञ

में विघ्न डाला ही चाहती थी कि चट रामचन्द्र ने एक ही बाण से उसे मार गिराया। उसके मरने का समाचार सुन उसके दोनों लड़के मारीच और सुबाहु क्रोध में भरे हुए यज्ञशाला में आकर बड़ा उपद्रव करने लगे। तब रामचन्द्र ने सुबाहु को तो एक ही बाण से मार डाला और मारीच अपने प्राण के डर से भाग गया। उनके ऐसे पराक्रम और प्रताप को देख सभी आश्रम-वासी ऋषि प्रसन्न होकर उनकी प्रशंसा करने लगे। विश्वामित्र ने भी संतुष्ट होकर उन्हें कई दिव्य अस्त्र दिये और उनके चलाने की रीति भी सिखा दी। फिर रामचन्द्र की प्रार्थना से उन्होंने लक्ष्मण को भी वे सब अस्त्र देकर उनके चलाने की विधि बता दी। यज्ञ के निर्विघ्न-समाप्त हो जाने पर एक दिन विश्वामित्र ने रामचन्द्र से कहा कि मिथिला के राजा जनक के यहाँ आज कल एक बड़ा उत्सव और यज्ञ हो रहा है। बुलावा आया है इस-लिये हम लोग भी यज्ञ देखने जायँगे। तुम दोनों भाई भी हमारे साथ चलो। वहाँ हम तुम्हें एक बड़ा ही अद्भुत धनुष दिखा-वेंगे। देवताओं ने प्रसन्न होकर वह धनुष राजा जनक के पुर-खाओं को दिया था। वह इतना भारी है कि बड़े बड़े वीरों के उठाये नहीं उठता। जब तुम उसे देखोगे तो बहुत प्रसन्न होगे। यह सुन प्रसन्न हो दोनों भाइयों ने महर्षि की आज्ञा बड़े आदर के साथ स्वीकार की।

प्रातःकाल शुभ मुहूर्त्त में महर्षि विश्वामित्र राम लक्ष्मण तथा अपने साथी ऋषियों को ले उत्तर की ओर चले और संध्या

होते होते सोन नदी के किनारे पहुचकर वहीं टिक रहे। रामचन्द्र ने उनसे उस स्थान का हाल पूछा तो उन्हों ने उसका इतिहास सुना कर कहा कि इसीका नाम गिरिव्रज है। विश्वामित्र ने वहाँ पर रात बिता कर अरुणोदय के पहिले उठ ऋषियों को साथ ले स्नान सन्ध्या आदि नित्य-कर्म किया और फिर वे सोन नदी के किनारे किनारे जङ्गलों में होते हुए दोपहर होते होते गङ्गा के किनारे बसी हुई विशाला नगरी में पहुचे। वहाँ के राजा से भली भाँति आदर सत्कार पा एक रात उन्ही के पाहुने बन कर दूसरे दिन मिथिला पहुंचे।

विश्वामित्र का आना सुन जनक ने अगवानी कर बड़ी भाव-भक्ति से ऋषियों के सहित उन्हें लाकर अपने यहाँ टिकाया और जब महर्षि से उन्होंने दशरथ-दुलारे दोनों राजकुमारों का परिचय पाया तो वे बहुत ही हर्षित और पुलकित हुए। विशेष कर रामचन्द्र के अच्छे और अलौकिक रूप तथा लक्ष्मण को निहार अपने किये हुए प्रण पर पछतावा करने लगे। दूसरे दिन राजा जनक ने दोनों कुमारों के साथ विश्वामित्र को बड़े आदर से अपनी सभा में बुलाया और उन्हें आसन पर बैठा हाथ जोड़ कर कहा—"मुनिवर! अब मेरे योग्य जो आज्ञा हो सो दीजिये।" यह सुन महर्षि ने कहा—"राजन्! आपके यहाँ जो जगत-विख्यात शिव-धनुष है। उसके देखने की बड़ी लालसा इन कुमारों के मन में लग रही है सो कृपा कर उसे मंगवाइये तो बडी बात हो।" यह सुन जनक उसके लाने की आज्ञा अपने योद्धाओं को

देकर विश्वामित्र से अपनी कन्या सीता के जन्म की कथा और उसके व्याह के लिये जो प्रण किया था सो सब सुनाने लगे। इतने ही मे कई एक बलवान् योद्धा लोग गाड़ी पर लदे हुए, एक सन्दूक को खींच कर ले आये, जिसमें वह धनुष रक्खा था। जनक के कहने और विश्वामित्र की आज्ञा से रामचन्द्र ने उठ कर सहज ही में उस धनुष को उठा लिया जिसके हिलाने मे भी पृथ्वी के सब वीर हार मान चुके थे। उसे झुका कर ज्यौँ ही वे उसकी प्रत्यंचा चढ़ाने लगे त्यौँ ही वह कड़कड़ा कर तडाके के साथ बीच से दो टुक हो गया। धनुष भङ्ग होते ही राजा जनक तथा रनिवास की सब स्त्रियोँ को बड़ा आनन्द हुआ क्योँकि जब से रामचन्द्र जनकपुर में आये थे तब से उन्ह देख कर सभोँ की यह लालसा हुई थी कि किसी तरह जानकी जी का व्याह रामचन्द्र के साथ हो।

राजा जनक ने हाथ जोड़ विश्वामित्र से कहा, "मुनिवर! दशरथ-कुमार रामचन्द्र ने धनुष तोड़ कर मेरी प्रतिज्ञा पूरी की। इसलिये मैं अपनी प्यारी पुत्री सीता का व्याह इनके साथ कर अपने कुल को पवित्र किया चाहता हूँ। अब आप आज्ञा दें तो मेरे दूत रथोँ पर बैठ शीघ्र अयोध्या में जाकर यह मंगल समाचार राजा दशरथ को सुनावेँ और उन से विनती कर बारात सजवा कर उन्हें लिवा लावें।" यह सुन विश्वा-मित्र ने हर्षपूर्वक जनक को दशरथ के पास नेवता भेजने की आज्ञा दी।

रामायण की कथा

(२)

महाराजा दशरथ राजा जनक के निमंत्रण-पत्र को पाकर बहुत प्रसन्न हुए। बारात को साज, गुरु वशिष्ठजी और अपने कुमार भरत और शत्रुघ्न तथा बन्धु बान्धवों सहित वे शीघ्र ही जनकपुर पहुँचे। उनको बड़े ही आदर के साथ जनक ने उतारा।

जनक ने अपनी प्यारी कन्या सीता का व्याह रामचन्द्र के साथ कर, विश्वामित्र की सलाह से अपने छोटे भाई कुशध्वज की तीनों कन्याओं में से, ऊर्मिला लक्ष्मण को, मांडवी भरत को, और श्रुतकीर्ति शत्रुघ्न को व्याह दी।

व्याह होने पर विदा हो ज्यों ही महाराज दशरथ चला चाहते थे कि एकाएक महाक्रोधी परशुराम अस्त्र शस्त्र लिये सामने आ खड़े हुए, जिन्हें देखते ही मारे भय के सब लोग काँप उठे। परशुराम ने भी रामचन्द्र को पुकार कर क्रोध भरे वचनों से कहा—"रे दशरथ के लड़के! महादेवजी के पिनाक को तोड तुझे बड़ा अभिमान हुआ है इसलिये हम तुझे अपने इस धनुष को देते हैं जो तू इसकी डोरी चढ़ा कर इस पर बाण को रख न खींच सकेगा तो अवश्य हमारे हाथों तेरे प्राण जायँगे।" उनके क्रोध से भरे वाक्यों को सुन रामचन्द्र ने उनकी बहुत विनती की पर उन्होंने एक न मानी। तब तो रामचन्द्र ने

उनके हाथसे धनुष ले सहज ही में उसकी प्रत्यंचा चढ़ा कर उस पर बाण खींचा। यह चमत्कार देख परशुराम लज्जित हो उनकी बड़ी स्तुति कर चले गये और सब लोग हर्षित हो रामचन्द्र की प्रशंसा कर अपने अपने भाग्य को सराहने लगे कि आज परशुराम के हाथ से अच्छे बचे। राजा दशरथ अपने चारों पुत्र और पतोहुओं को साथ ले बडे आनन्द से अयोध्या-पुरी में आये। जब से रामचन्द्र ब्याह कर घर आये तब से नित्य नये नये उत्सव अयोध्या में घर घर होने लगे।

थोडे दिन पीछे कैकेय के राजकुमार युधाजित अयोध्या मे आकर अपने भानजे भरत और शत्रुघ्न को अपने साथ ले गये और इधर रामचन्द्र अपने पिताके अधीन रह राजकाज और प्रजापालन मे उनकी सहायता करने लगे।

रामचन्द्र के अलौकिक गुणों को देख सारी प्रजा की इच्छा हुई कि अब महाराज इन्हें युवराज बना कर पुत्र को राजकाज का भार सौंप आप उससे अलग हो निश्चिन्तता से अपने दिन बितावें।

राजा दशरथ ने प्रजा का रामचन्द्र पर अनुराग और रामचन्द्र में प्रजापालन करने की शक्ति देख उनको राज्याभिषेक देना विचारा। यह समाचार राज्य में फैल गया जिससे सारी प्रजा आनन्दित हो गई और उस मंगलमय दिन की बाट बडी उत्कण्ठा से जोहने लगी। जिस दिन रामचन्द्र को राज्याभिषेक होनेवाला था। उसके एक दिन पहिले कैकेयी की दासी मन्थरा

ने जाके उससे इस अभिषेक का सन्देशा कहा जिसे सुन मारे आनन्द के उसने उस दासी को अपना एक आभूषण उतार के दे दिया, पर उसने उसे उठा के फेंक दिया और झुझला के कहा कि तुम अपनी भलाई बुराई कुछ भी नहीं समझतीं। भला जब सौत का लड़का राजगद्दी पर बैठेगा तब तुम्हारा लड़का उसका जन्म भर सेवक ही बना रहेगा। इस प्रकार से उसने बहुत सी बातें बना कर रानी का मन ऐसा फेर दिया कि वह भी उसकी बातों से बहक गई और पूछने लगी कि अब मुझे क्या करना चाहिए? मन्थरा पुरानी बात की याद दिला के बोली कि राजा ने जो तुम्हे दो वर देने का वचन दिया है सो इस समय एक तो तुम यह माँगो कि रामको राज्य न हो भरत को हो और दूसरा यह कि राम चौदह वर्ष लौं बन में रहें। कैकेयी इस उपदेश को मान कोपभवन में जा बैठी और जब राजा दशरथ आये तब बहुत कुछ मनाने पर उसने वही दोनों वर माँगे। यह सुनते ही राजा व्याकुल हो मूर्च्छित हो गये। मूर्च्छा दूर होने पर विह्वल हो विलाप कर के रानी को समझाने लगे पर उसने राजा के विलाप पर कुछ ध्यान न दिया तब विवश हो उन्होंने राम को बुला भेजा और सब हाल कह सुनाया। इसे सुन रामचन्द्र के चित्त में दुःख ज़रा सा भी न हुआ और चट बन जाने की आज्ञा देने के लिये वे पिता को समझाने लगे। निदान अनेक प्रकार समझा बुझा राम निज माता कौशल्या तथा और लोगों से विदा होने के लिये आये।

सबसे पहिले लक्ष्मण जी से भेंट हुई। रामचन्द्र ने उनसे सब हाल कह सुनाया जिसे सुनते ही मारे क्रोध के उनका सारा शरीर काँप उठा और रोष भरे शब्दों से उन्होंने कहा, देखूँ तो मेरे रहते कौन बड़े भाई को राज देने से रोकता है। राम ने अनेक प्रकार से उन्हें समझा के शान्त तो किया पर वे भी उनके साथ बन जाने को प्रस्तुत हो गये। धीरे धीरे यह समाचार सीता और कौशल्या तक पहुँचा, चारों ओर शोक का समुद्र सा उमड़ आया। अंत में रामचन्द्र अयोध्यावासियों को रोते बिलबिलाते छोड़ लक्ष्मण और सीता को साथ ले वन को चले।

उस समय रामचन्द्र जी की सत्ताईस और सीता की अठारह वर्ष की अवस्था थी। अयोध्यापुरी के बाहर निकल दक्षिण की ओर गङ्गा किनारे तक जाकर उन्होंने रथ को लौटा दिया और गङ्गा पार हो अपने परम भक्त निषाद्-राज गुह के बहुत कहने पर वहाँ एक रात वृक्ष के नीचे रह दूसरे दिन प्रातःकाल दक्षिण की ओर यात्रा की।

पुत्रों के विरह से बहुत कातर हो दशरथ ने अपना शरीर छोड़ दिया। पिता के मरने का समाचार पाते ही भरत अपने मामा के यहाँ से अयोध्यापुरी आये और कैकेयी तथा मन्थरा को अनेक कटुवचनों से धिक्कार कर, पिता का दाह बिना किये ही रामचन्द्र को लौटाने के लिये प्रजा-वर्ग के साथ उनकी खोज में चले।

उधर रामचन्द्र अयोध्या से निकल तीन दिन तक केवल जल

पी कर रहे, चौथे दिन फल खा कर गङ्गा पार हुए, और पाँचवें दिन चित्रकूट पर्वत पर पहुँच कुटी बना कर रहने लगे।

इधर वन में रामचन्द्र को खोजते हुए भरत जी भी वहाँ पहुँचे। और उन्होंने उनको लौटा लाने के लिये बहुत कुछ कहा सुना परन्तु पिता की आज्ञा टालने के भय से रामचन्द्र ने उन्हें समझा बुझा कर विदा किया। चलती बेर भरत रामचन्द्र की खड़ाऊँ लेते गये और अयोध्या पहुँच उन्होंने पिता का श्राद्ध आदि कर्म किया तथा उसी खडाऊँ को राज-सिंहासन पर रख आप नन्दिग्राम में डेरा डाल राम भजन करते हुए प्रजा-पालन करने लगे।

भरत के समागम के भय से रामचन्द्र चित्रकूट छोड़ घोर से घोर वनों में प्रवेश करते और विराध इत्यादि राक्षसों को मारते पंचवटी नामक वन में पहुँचे और वहाँ गोदावरी-तीर के मुनियों की रक्षा करते हुए निवास करने लगे। थोड़े दिनों के उपरांत वे पंचवटी छोड़ और भी घने ज़ङ्गल में चले गये। वहाँ सूर्पणखा नाम की एक राक्षसी जो रावण की बहिन थी, लक्ष्मण के रूप को देख मोहित हो गई और अपना रूप सुन्दर बना कर लक्ष्मण के पास आ उनसे विवाह करने का हठ करने लगी परन्तु उनसे कोरा उत्तर पा उसने सीता को मारना चाहा।

स्त्री को मारना उचित न जान लक्ष्मण ने उसकी नाक काट ली। सूर्पणखा बड़ी कुपित हो खर-दूषण आदि को चढ़ा लाई जिन्हें अकेले रामचन्द्र ने युद्ध में मार यमपुर को भेज

दिया। यह देख दुःख और क्रोध से विकल हो सूर्पणखा अपने भाई रावण को बुला लाई और वह मारीच को अपने साथ लिवा लाया। उस समय वह आप तो छिपा रहा पर उसने मारीच को सोने के रङ्ग का बड़ा सुन्दर मृग बना जानकी जी के सम्मुख किलोल करने को भेज दिया। उसे देख जानकी ज़ी ने रामचन्द्र से उसके पकड़ लाने का बड़ा हठ किया। इस पर उनके हठ से रामचन्द्र धनुष-बाण लिये मृग के पीछे पीछे जब बहुत दूर चले गये तब उस मारीच ने कातर हो रामचन्द्र के से कंठस्वर से लक्ष्मण को पुकारा जिसे सुनते ही सीता ने घबरा कर लक्ष्मण से कहा कि तुम अभी जाओ देखो तुम्हारे भाई पर कोई बड़ा कष्ट पड़ा है। यह सुन लक्ष्मण ने उन्हें बहुत समझाया पर वह उनसे जाने के लिये बार बार कहने लगीं। बिवस हो लक्ष्मण उसी ओर चले जिधर से वह शब्द सुनाई दिया था। ज्यौं हीं लक्ष्मण कुटी से बाहर हुए त्यौं हीं रावण भिखारी का भेष बना सीता के सामने आया और बलपूर्वक उन्हें अपने रथ पर बैठा कर ले भागा। रोती और कलपती हुई सीता अपने गहनों को चिह्न के लिये मार्ग में बराबर फेंकती चली गईं।

जब राम ने मृग पर बाण चलाया तब वह अपना कपट रूप छोड़ राक्षस बन बाण की चोट से कराहता हुआ सुर-धाम सिधारा। यह देख रामचन्द्र को बड़ा विस्मय हुआ और वह घबराये हुए आश्रम की ओर झपटे चले आ रहे थे कि उधर से घबराये हुए लक्ष्मण को आते देख उनके चित्त में शंका हुई कि

जानकी के ऊपर तो कोई विपत्ति नहीं आई। लक्ष्मण से उनके आने का कारण सुन दोनों भाई लौटे और कुटी में जाकर देखा कि वहाँ सीता नहीं हैं।

रामायण की कथा

(३)

यह देख दोनों बहुत ही घबराये और रामचन्द्र बड़े विकल हुए पर लक्ष्मण के समझाने पर कुछ धीरज धर उनके साथ कुटी के आस पास सीता को ढूँढ़ने लगे। खोजते खोजते कई जगह गिरे हुए गहने मिले जिन्हें देख वे लोग भी उधर ही बढ़ते चले गये। कुछ दूर जाने पर उन्होंने अपने पिता के बन्धु जटायु को अधमरा सा पड़ा पाया। वे दोनों उसके पास गये और उसने सीता-हरण की और रावण से अपने युद्ध की कथा कह सुनाई और अन्त में वह प्राण-त्याग परलोक सिधारा। रामचन्द्र ने अपने हाथों से उसकी दाह-क्रिया की और विलाप करते हुए लक्ष्मण के साथ आगे बढ़े। बड़े बड़े पर्वतों और गुफाओं में सीता को ढूँढ़ते और उनके लिये विलाप करते चले जाते थे कि पथ में बड़े विशाल बाहुवाला कबन्ध नामक राक्षस मिला। उसे खड्ग से मार आगे जाते-जाते पंपासर पर थोड़ा विश्राम कर ऋष्यमूक पर्वत पर पहुँचे, वहाँ बाली के भय से सुग्रीव अपने पाँच मन्त्रियों के साथ रहा करता था। उसने उन दोनों भाइयों को बाली का चर मान भयभीत हो हनुमानजी को

उनका भेद लेने भेजा। हनुमान राम और लक्ष्मण को सुग्रीव के पास लिवा ले गये और बीच में अग्नि को रख दोनों ने शपथपूर्वक मित्रता की। फिर राम ने वाली को मार सुग्रीव को राजा बनाने और उसने सीता की खोज लगाने की परस्पर प्रतिज्ञा की।

प्रतिज्ञा के अनुसार रामचन्द्र ने वाली को मार सुग्रीव को किष्किन्धा का राजा बनाया और उसने अपने सम्पूर्ण वन्दरों को बुला सीता के ढूँढने के लिये आठों दिशाओं में उन्हें भेजा तथा वन्दरों में जो मुखिया थे जैसे अङ्गद, जामवन्त, नल, नील और हनुमान उनको दक्षिण की ओर भेजा। वे लोग सीता को खोजते हुए दक्षिण समुद्र के तट पहुँचे। वहाँ सम्पाति से अगहन की दशमी के दिन उन्हें सीता का पता मिला। द्वादशी के दिन सायंकाल में मार्ग के सब विघ्नों को नाश कर सब साथियों को इसी पार छोड़ अकेले हनुमान रामचन्द्र की दी हुई मुद्रिका (अंगूठी) ले समुद्र पार लंकापुरी में गये। वहाँ अशोक वन में जानकीजी से भेंट कर लंका जला और रावण को धिक्कार कर चौदश के दिन अपने कटक में लौट आये और सबके पास आकर रामचन्द्र को सीता का उन्होंने सन्देसा सुनाया तथा जानकीजी ने जो चिह्न-स्वरूप अपना सीसफूल दिया था उसे दे शीघ्र चढ़ाई करने की प्रार्थना की। तब रामचन्द्र ने अपने मित्र सुग्रीव और असंख्य वानर दल को साथ ले शुभमुहूर्त्त में अष्टमी के दिन दोपहर के समय यात्रा की और सातवें दिन वानरी सेना के साथ समुद्र के तट पर आकर डेरा डाला। तीन

दिन समुद्र के तट पर टिके रहे चतुर्थी को रावण का भाई विभीषण उनकी शरण में आया। उन्होंने बड़े प्रेम और आदर से उसे बुला अपना मित्र माना और अभय दे लंका का राजा बनाया। पंचमी के दिन रामचन्द्र समुद्र के पार जानेका विचार करने लगे। फिर बानरों की सहायता से नल और नील ने समुद्र पर पुल बाँधा। यह सेतु दस योजन चौड़ा और सौ योजन लंबा था उससे पार हो तीन दिन बानरी सेना लंका के चारों ओर बिलाबिलाहट और तर्जन गर्जन करती हुई घूमती रही परन्तु कोई युद्ध न हुआ। इस बीच में शुक और सारण नाम के दो परम चतुर चरों को रावण ने राम-दल देखने के लिये भेजा। उन दोनों को बानरों ने बांध लिया और दुख देने लगे। तब रामचन्द्र ने दया करके उन्हें छुड़वा दिया; उन दूतों ने जाके रावण से राम तथा उनके साथियों का पूरा पूरा हाल कह सुनाया जिसे सुन उसकी रानी मन्दोदरी ने उसे बहुत कुछ समझाया परन्तु उस अभिमानी के चित्त पर मन्दोदरी के कहने का कुछ भी प्रभाव न हुआ वरन उसने रामचन्द्र से युद्ध करना ही निश्चय कर लिया।

इधर रामचन्द्र की आज्ञा पाकर युवराज अङ्गद रावण की सभा में गये और सीता को लौटा देने के लिये राजनीति के अनुसार उन्होंने रावण को बहुत कुछ समझाया पर उसके चित्त में कुछ न आया। अन्त मे अङ्गद यह कह कर लौट आया कि "अब काल परिवार के सहित तेरी बाट देख रहा है।"

अङ्गद के लौट आने पर युद्ध प्रारम्भ हुआ। रावण के बड़े

बड़े वीर योद्धा तथा कुम्भकर्ण सा भाई, इन्द्रजीत सा पुत्र और असंख्य बेटे, पोते उस युद्ध में खेत आये, पर उस पर भी उस अभिमानी का गर्व न टूटा। राम-रावण का ऐसा घोर युद्ध हुआ कि जिसकी इस जगत् में दूसरी उपमा ही नहीं है। जब रावण के समस्त कुल का नाश हो गया तब रामचन्द्र ने उस महाबली को भी मार गिराया।

माघ शुक्ल द्वितीया से लेकर चैत शुक्ल चतुर्दशी तक युद्ध हुआ और उनमें से केवल पन्द्रह दिन रुका रहा अर्थात् बहत्तर दिन लगातार युद्ध होता रहा। रावण के मरने पर विभीषण ने उसकी अंतिम-संस्कार-क्रिया की और पीछे रामचन्द्र की आज्ञा से बड़ी धूम धाम के साथ लक्ष्मणजी ने लंका में जाकर विभीषण का राज्याभिषेक किया। फिर विभीषण जानकीजी को अशोक बन से रामचन्द्र के पास ले आये। चौदह महीने दस दिन जानकीजी रावण के यहाँ रही थीं इस लिये राम ने अग्नि में परीक्षा कर सीता को ग्रहण किया। बहुत दिनों के पीछे राम और सीता ने एक दूसरे को देखा। दोनों के चित्त में आनन्द का समुद्र उमड़ आया। फिर सीता, लक्ष्मण, हनुमान, विभीषण, और सुग्रीव आदि को संग ले पुष्पक विमान पर चढ़ कर चौदह वर्ष के उपरान्त रामचन्द्र अयोध्या की ओर चले।

लौटते समय पथ में रामचन्द्र जानकीजी को बन, पर्वत, नदी, नद तथा अपने बनाये सेतु आदि स्थानों को दिखाते, जहाँ जहाँ जो जो हुआ था उसे आपस में कहते सुनते बड़े

आनन्द से चले आते थे। तीन दिन में विमान अयोध्या के पास पहुँचा। तब रामचन्द्र की आज्ञा से हनुमान ने जाकर भरत से उनके आने का समाचार कहा जिसे सुन भरत, वशिष्ठ और माता आदि परिवार तथा प्रजावर्ग के साथ चौदह वर्ष के बिछुड़े हुए भाई से मिले। जिस समय चारों भाई परस्पर गले मिले उस समय की शोभा बड़ी ही अनोखी थी। रामचन्द्र बड़े आदर और प्रेम के साथ कैकेयी आदि माता तथा आये हुए सब लोगों से मिले और सुग्रीव, अङ्गद, हनुमान और विभीषण आदि को सब से मिला उनकी बड़ी बड़ाई करने लगे। फिर सब लोग अयोध्यापुरी में पहुचे।

भरत ने गुरु वशिष्ठ की आज्ञा से शुभ मुहूर्त्त में रामचन्द्र का राज्याभिषेक किया। राजसिंहासन पर बैठने के दिन महाराज रामचन्द्र की अवस्था बयालीस वर्ष और सीता का तैंतीस वर्ष की थी। रामचन्द्र तो राजा हुए और भरत, लक्ष्मण तथा शत्रुघ्न उनके परम आज्ञाकारी और सदा सेवा में तत्पर रह कर अमात्य का कार्य्य करने लगे।

यह लेख रामचरित्ररूप सागर का बुन्द मात्र भी नहीं है। इस चरित्र को वाल्मीकि ने बड़े विस्तार से अपनी मनोहर कविता में वर्णन किया है। संसारी जीवों के लिये रामचरित्र एक अति स्वच्छ दर्पण है। बालकों को माता-पिता की आज्ञा क्योंकर माननी चाहिये, भ्राताओं को परस्पर कैसा प्रेम रखना चाहिये, पतिव्रता स्त्री को अपने पति की किस भाँति से सेवा

करनी चाहिए, हठीली स्त्रियोँ के हठ से गृहस्थी की कैसी हानि होती हैं, अभिमानी और हठधर्मी को हठ का क्या फल मिलता है, सत्य के पालन से क्या लाभ और असत्य के आचरण से कितनी हानि होती है, रामायण इन नीतियोँ की मानो खान है। संसारी जन यदि रामायण को भली भाँति पढ़ें, समझें और इसकी नीति पर ध्यान दें तो बड़े सुख से उनकी संसार-यात्रा का निर्वाह हो। इसलिये हे प्यारे बालको! परम पुनीत राम-चरित को पढ़ना और समझना तथा उसके अनुसार नीति का वर्ताव करना तुम्हारे लिये परम मंगलकारी है।

—कार्त्तिकप्रसाद खत्री।

जन्म-भूमि

१—जहाँ जन्म देता हमें है विधाता
उसी ठौर में चित्त है मोद पाता।
जहाँ हैं हमारे पिता, बन्धु, माता
उसी भूमि से है हमें सत्य नाता॥

२—जहाँ की मिली वायु है जीवदानी
जहाँ का मिदा देह में अन्न पानी।
भरी जीभ में है जहाँ की सुबानी
वही जन्म की भूमि है भूमि-रानी॥

३—लगी धूल थी देह में जो हमारी
कभी चित्त से हो सकेगी न न्यारी।

बनाती रही देह को जो निरोगी
किसे धूल ऐसी सुहाती न होगी ॥
४—पिला दूध माता हमें पालती है
हमारे सभी कष्ट भी टालती है।
उसी भाँति है जन्म की भू उदारा
सदा सङ्कटों में सुतों का सहारा ॥
५—कहीं जा बसें चाहता जी यही है
रहे सामने जन्म की जो मही है।
नहीं मूर्त्ति प्यारी कभी भूलती है
छटा लोचनों में सदा भूलती है ॥
६—यथा इष्ट है गेह त्यों ही पुरा है
नहीं एक अच्छा न दूजा बुरा है।
पुरी प्रान्त त्यों देश भी है हमारा
सभी ठौर है जन्म-भू का पसारा ॥
७—जिसे जन्म की भूमि भाती नहीं है
जिसे देश की याद आती नही है।
कृतघ्नी महा कौन ऐसा मिलेगा
उसे देख जी क्या किसी का खिलेगा ॥
८—धनी हो बड़ा या बड़ा नामधारी
नहीं है जिसे जन्म की भूमि प्यारी।
वृथा नीच ने मान सम्पत्ति पाई
बुरे के बढ़े से हुई क्या भलाई ?

९—जिन्हें जन्म की भूमि का मान होगा
उन्हें भाइयों का सदा ध्यान होगा।
दशा भाइयों की उन्होंने न जानी
कहेगा उन्हें कौन देशाभिमानी॥

१०—कई देश के हेतु जी खो चुके हैं
अनेकों धनी निर्धनी हो चुके हैं।
कई बुद्धि ही से उसे हैं बढ़ाते
यथाशक्ति हैं वे ऋणों को चुकाते॥

११—दया-नाथ, ऐसी हमें बुद्धि दीजे
दशा देश की देख छाती पसीजे।
दुखों से बचाते रहें देश प्यारा
बनावें उसे सभ्य सत्कर्म-द्वारा॥

—कामता प्रसाद गुरु।

सर आइज़क न्यूटन

भारतवर्ष में जिस समय कमलाकर भट्ट ने अपना ग्रन्थ सिद्धान्त तत्त्वविवेक बनाया उस समय यूरोप में न्यूटन की अवस्था सोलह वर्ष की थी। इसका पिता इसके बालकपन ही में मर गया था परन्तु बुद्धिमती माता की कृपा से बाल अवस्था ही मे इसके हृदय में अनेक गुणों के अंकुर उत्पन्न हो गये थे। बारह वर्ष की अवस्था मे अर्थात् १६५४ ई० में इसकी माता ने

कोल्स्टरवर्थ नगर में (जहाँ इसका जन्मस्थान था) इसे ग्रेन्थम के स्कूल में भेजा। वहाँ पर यंत्रकला मे यह ऐसा निपुण हुआ कि लोगोँ को इसकी बुद्धि पर आश्चर्य्य होने लगा। और विद्यार्थी तो अवकाश पाने पर खेल कूद कर समय नष्ट करते थे परन्तु न्यूटन उस समय जलयंत्र, वायुयंत्र इत्यादि की रचना में निमग्न रहता था। यह यंत्र-रचना में ऐसा उत्साहित था कि लोहारोँ के ऐसा बसूला, रेती इत्यादि औज़ार भी सदा अपने पास रखता था। न्यूटन के पड़ोस में एक हवा की चक्की थी। उसे देख कर इसने अपने हाथ से एक छोटी सी बहुत ही सुन्दर वैसी ही चक्की बना ली। न्यूटन अपने चक्र को कभी कभी ऊपर छप्पर पर रख दे और वायु के वेग से जब वह चलने लगे तो अपनी रचना पर मन ही मन आनन्द में मग्न हो जाय। किसी एक मित्र ने न्यूटन को एक पुराना सन्दूक़ दिया। इसने उसको कतर छाँट कर एक घड़ी-यंत्र बनाया। इसका मुख तो प्रचलित घड़ी ही के सदृश था परन्तु सुई एक लकड़ी में जकड़ी थी। यंत्र के पीछे लकड़ी पर जब जल की धारा का आघात लगे तब लकड़ी के संग मुख पर चारोँ ओर सुई चला करे (भास्कर ने भी इसी प्रकार का एक "स्वयं-वह" नाम का यंत्र अपने गोलाध्याय मे जल के बल से बनाया था)। न्यूटन काग़ज़ न रहने से घर की दीवारोँ ही के ऊपर रेखा-गणित इत्यादि का क्षेत्र लिख कर उसका सिद्धान्त अपने मन में बैठा लिया करता था। इस कारण से इसके घर की दीवार एक प्रकार की पुस्तक

ही हो गई थी। अठारह वर्ष की अवस्था मे न्यूटन ग्रेन्थम से केम्ब्रिज के ट्रिनिटी कालिज में पढ़ने के लिये गया। वहाँ पर इसने मोटे शीशे के एक छेद में से प्रकाश बाहर हो कर आवे तो उसका कैसा रूप होता है इसके सिद्धान्त को और प्रकाशवान् पदार्थ की प्रत्येक किरण में सात रंग के अवयव वैसे ही रहते हैं जैसा कि इन्द्र धनुष में होता है—इसके सिद्धान्त को भी बड़े विस्तार से वर्णन किया।

सन् १६६५ ई० में केम्ब्रिज में बड़ा भारी महामारी का उपद्रव फैला, जिससे न्यूटन भाग कर अपने घर चला गया। वहाँ पर एक दिन अपनी वाटिका में टहलता था। दैवात् इसके सामने एक वृक्ष का फ़ल टपक पड़ा। इस पर इसने अनुमान किया कि अवश्य इस पृथ्वी में आकर्षण-शक्ति है। फिर इस आकर्षण की ओर इसका मन इतना बढ़ा कि इस पर अनेक नई बातों का पता लगा डाला और यह भी सिद्ध किया कि आकाश में जितने ग्रहपिण्ड और तारे हैं सब परस्पर आकर्षण ही के बल से निराधार घूमा करते हैं। न्यूटन के पहले योरोप में कोई विद्वान् यह नहीं जानता था कि पृथ्वी में आकर्षण शक्ति है। भारतवर्ष के विद्वान् चिरकाल से जानते थे कि पृथ्वी में आकर्षण शक्ति है परन्तु उस आकर्षण में कैसा धर्म्म है इस पर किसी का मन न गया। घर बैठे कविता कर कर ग्रन्थ बनाया किये, यह न बन पड़ा कि परीक्षा कर इस आकर्षण के धर्म्मका पता लगावें।

सन् १६६७ ई० में न्यूटन फिर केम्ब्रिज में आया। वहाँ पर इसकी योग्यता देख लोगोंने इसे विद्या सम्बन्धिनी एक बड़ी भारी पदवी दी। दो वर्ष के अनन्तर यह केम्ब्रिज ही में गणित-शास्त्र का प्रधान अध्यापक हुआ। सन् १६८३ ई० में इसने लेटिन भाषा में एक गणित का अपूर्व ग्रन्थ बनाया जिस पर आज तक अनेक टीका व टिप्पण बनते चले आ रहे हैं। सन् १६९५ ई० में वहाँ की गवर्नमेण्ट ने इसे अपनी टकसाल का अधिकारी बनाया।

यद्यपि यह इतना भारी विद्वान् था तथापि इसके शरीर में अहंकार या अभिमान का नाम तक नहीं था। इसी कारण यह ऐसा सर्वप्रिय हो गया था कि जहाँ जाय वहाँ दस बीस लोग घेरे रहें। उसे तो ऋषि कहना चाहिये। एक दिन रात के समय न्यूटन कहीं बाहर चला गया था। चौकी पर उसके लिखे हुए पत्र पड़े थे और मोमवत्ती जलती थी। उसका कुत्ता जिसे वह बहुत चाहता था और जिसका नाम हीरा था न जाने क्या समझा कि एकाएक चौकी पर उछल पड़ा। इससे बत्ती गिर पड़ी और सब पत्र भस्म हो गये। आने पर न्यूटन ने उस कुत्ते से इतना ही कहा कि तुझे क्या ज्ञान है कि मैंने कितने परिश्रम से कई वर्षों में लिख कर इनको पूरा किया था।

सन् १७११ ई० में गणित के एक नियम को लेकर लैब्नित्स से, जो कि जर्मन देश का एकही प्रसिद्ध गणित-शास्त्र का विद्वान् था, और न्यूटन से विवाद हो गया। बहुत लोग कहते थे कि

यह नियम न्यूटन का निकाला है और बहुत से लोग कहते थे कि यह लैब्निट्स का निकाला है। निदान इसका विचार लण्डन की रायल सोसाइटी में किया गया। उस समय पूरा पूरा विचार न होने से उसका कर्त्ता न्यूटन ही ठहराया गया और महासभा की ओर से चारों ओर विज्ञापनपत्र भेजे गये कि आज से सब को विदित हो कि यह नियम न्यूटन का बनाया है। इसके अनन्तर जर्मन देश के महाराज ने लण्डन में सूचना दी कि इस विषय पर अच्छे प्रकार से पुनः विचार करना चाहिये। अन्त में दोनों ओर के सभ्यों ने मध्यस्थ द्वारा (जिसके यहाँ न्यूटन और लैबनित्स दोनों प्रायः अपने सिद्धान्तों को पत्र द्वारा लिख कर भेजा करते थे) दोनों के पत्रों को देख कर सिद्ध किया कि दोनों ने एक दूसरे का सिद्धान्त व नियम बिना देखे अपनी अपनी बुद्धि से इसको बनाया है, इसलिये दोनों को इसका स्वतंत्र कर्त्ता कहना चाहिये परन्तु बड़े खेद की बात है कि इस अन्तिम विचार (फैसले) के प्रचारित होने के पूर्व ही महाबैरी काल ने लैब्निट्स को अपना ग्रास बना लिया था। जो हो, परन्तु आज कल तो सब विद्वानों के मत से उस नियम का बनानेवाला लैब्निट्स ही है। और उसके आदर के लिये यह नियम उसी के नाम से प्रसिद्ध है। न्यूटन सन् १७२७ ई० में पचासी वर्ष की अवस्था में परलोक सिधारा। मरने के पहले बीस दिन तक बीमार रहा। मरते समय उसका यह अन्तिम वाक्य था कि "लोग मुझे चाहे जैसा विज्ञ समझते हों परन्तु मेरी तो दशा ऐसी

थी कि जैसे कोई वालक समुद्र के तट पर खड़ा हो और दैव-योग से तरंगों के द्वारा कभी उसके हाथ चिकना कंकर और कभी सीपी आ जाय, उसी प्रकार मैं भी मुग्ध वालक के ऐसा अपार ज्ञान समुद्र के तट पर खड़ा था जिसका मुझे कुछ भी वारापार न सूझता था, केवल दैवयोग से कुछ मेरे हाथ में आ गया।

—सुधाकर द्विवेदी।

परोपकार

(१)

दीनता को दूर कर उपकार में जो लीन है

पूज्य है वह, क्योंकि अच्छा कर्म ही कौलीन * है।

दिव्य कुल मे जन्म ही से लाभ कुछ होता नहीं।

क्या मनोहर फूल में लघु कीट है होता नहीं॥

(२)

जन्म भर उपकार करना ज्ञानियों का धर्म है।

कर्म से पीछे न हटना मानियो का मर्म्म है।

सूर्य जब तक है उदित तम का पता लगता नही

खर समीरण सामने क्या मेघ टिक सकता कहीं॥

---

* यद्यपि इसका अर्थ निन्दा है तथापि यहाँ पर उच्च-कुलोचित के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है।

(३)

जो पराये काम आता धन्य है जग में वही
द्रव्य ही को जोड़ कर कोई सुयश पाता नही।
पास जिसके रत्न-राशि अनन्त और अशेष है
क्या कभी वह सुरधुनी[1] के सम हुआ सलिलेश[2] है॥

(४)

आभरण नर-देह का बस एक पर-उपकार है
हार को भूषण कहे, उस बुद्धि को धिक्कार है।
स्वर्ण की जंजीर बाँधे श्वान फिर भी श्वान है
धूलि-धूसर भी करी[3] पाता सदा सम्मान है॥

(५)

जो विदेशों से गुणों को सीख कर आते यहाँ
और फैलाते उन्हें निज-देश बीच जहाँ तहाँ।
सर्वविध वे गण्य हैं, वे धन्य हैं, वे मान्य हैं
अन्य नर औदुम्बरी[4]-फल-जन्तु सम सामान्य हैं॥

(६)

है उसी का कीर्ति-कारक जन्म इस संसार में
दे दिया सर्वस्व जिसने और के उपकार में।
धन्य हैं जड़ वृक्ष वे जो सौख्य बहु देते हमें
ध्यान देते हैं नहीं इतने पडे हम मोह में॥

---

१ गङ्गा। २ समुद्र। ३ हाथी। ४ गूलर।

(७)

तुच्छ कुल मे जन्म हो, तो भी करो शुभ काम को
ख्यात करना जो तुम्हें हो विश्व में निज नाम को।
नाम कुम्भज[1] का छिपा है क्या सकल संसार से
धर्म्म-रक्षा थी हुई जिनके महद् व्यापार से॥

(८)

ज्ञान मुझमे अल्प है यह ध्यान में मत लाइए
हारिये मन में न सद्व्यवहार करते जाइए।
चन्द्र-रवि दोनों कुहू[2] में देख पड़ते जब नहीं
उस समय मे दीप अपना काम क्या करते नहीं॥

(९)

खेल ही में बाल जो दिन काटता वह है बुरा
शोक! अपने हाथ वह है मारता उर में छुरा।
बालपन से लाभ पहुँचाना उचित है लोक को॥
क्या प्रगट करता नहीं बालेन्दु निज आलोक[3] को॥

(१०)

लाभ अपने देश का जिससे नहीं कुछ भी हुआ
जन्म उसका व्यर्थ है जल के बिना जैसा कुआ।
इस जगत में वन्य[4] पशु से भी निरर्थक है वही।
क्योंकि पशु के चर्म्म से भी काम लेती है मही॥

---

१ अगस्त्य मुनि। २ अमावस। ३ प्रकाश। ४ जंगली।

(११)

मान मर्य्यादा रहित जीना वृथा ही जानिए
स्वार्थरत को यश नहीं मिलता, इसे सच मानिए।
पेट भरने के लिये तो उद्यमी है श्वान भी
क्या अभी तक है मिला उसको कहीं सम्मान भी ॥

—रामचरित उपाध्याय !

मुद्राराक्षस की कथा

पूर्व काल में भारतवर्ष में मगध राज्य एक बड़ा भारी जनस्थान था। जरासिन्ध आदि अनेक प्रसिद्ध पुरुवंशी राजा यहाँ बड़े ख्यातनामा हुए हैं। इस देश की राजधानी पाटलीपुत्र अथवा पुष्पपुर थी। इन लोगों ने अपना प्रताप और शौर्य्य इतना बढाया था कि आज तक इनका नाम भूमण्डल पर प्रसिद्ध है। किन्तु कालचक्र बड़ा प्रबल है कि किसी को भी एक अवस्था में रहने नहीं देता। अन्त में नन्दवंश ने पौरवों को निकाल कर वहा अपनी जय-पताका उडाई। वरंच सारे भारतवर्ष में अपना प्रबल प्रताप विस्तारित कर दिया।

इतिहास ग्रन्थों में लिखा है कि एक सौ अड़तीस बरस नन्दवंश ने मगध देश का राज्य किया। इसी वंश में महानन्द का जन्म हुआ। यह बड़ा प्रसिद्ध और अत्यन्त प्रतापशाली राजा हुआ। जब जगद्विजयी सिकन्दर (अलक्षेन्द्र) ने भारतवर्ष

पर चढ़ाई की थी तब असंख्य हाथी, बीस हज़ार सवार और दो लाख पैदल लेकर महानन्द ने उसके विरुद्ध प्रयाण किया था। सिद्धान्त यह कि भारतवर्ष मे उस समय महानन्द सा प्रतापी और कोई राजा न था।

महानन्द के दो मंत्री थे। मुख्य का नाम शकटार और दूसरे का राक्षस था। शकटार शूद्र और राक्षस ब्राह्मण था। ये दोनोँ अत्यन्त बुद्धिमान् और महा प्रतिभासम्पन्न थे। केवल भेद इतना था कि राक्षस धीर और गम्भीर था, उसके विरुद्ध शकटार अत्यन्त उद्धतस्वभाव था; यहाँ तक कि अपने प्राचीन-पने के अभिमान से कभी कभी यह राजा पर भी अपना प्रभुत्व जमाना चाहता था। महानन्द भी अत्यन्त उग्रस्वभाव, असहन-शील और क्रोधी था। इसका परिणाम यह हुआ कि महानन्द ने अन्त को शकटारको क्रोधान्ध होकर बडे निबिड़ बन्दीख़ाने में क़ैद किया और सपरिवार उसके भोजन को केवल दो सेर सत्तू देता था।

शकटार ने बहुत दिन तक महामात्य का अधिकार भोगा था, इससे यह अनादर उसके पक्ष में अत्यन्त दुखदाई हुआ। नित्य सत्तू का बरतन हाथ में लेकर अपने सब परिवार से कहता कि जो एक भी नन्दवंश को जड़ से नाश करने में समर्थ हो वह यह सत्तू खाय। मंत्री के इस वाक्य से दुखित होकर उसके परिवार का कोई भी सत्तू न खाता। अन्त मे कारागार की पीड़ा से एक एक करके उसके परिवार के सब लोग मर

गये। एक तो अपमान का दुख, दूसरे कुटुम्ब का नाश, इन दोनों कारणों से शकटार अत्यन्त तनछीन मनमलीन दीन हीन हो गया। किन्तु अपने मनसूबे का ऐसा पक्का था कि शत्रु से बदला लेने की इच्छा से अपने प्राण नहीं त्याग किये और थोड़े बहुत भोजन इत्यादि से शरीर को जीवित रक्खा। रात दिन इस सोच में रहता कि किस उपाय से वह अपना बदला ले सकेगा।

कहते हैं कि राजा महानन्द एक दिन हाथ मुंह धोकर हँसते हँसते जनाने में आ रहे थे। विचक्षणा नाम की एक दासी, जो राजा के मुंह लगने के कारण कुछ धृष्ट हो गई थी, राजा को हँसता देख कर हँस पड़ी। राजा उसकी ढिठाई से बहुत चिढ़े और उससे पूछा 'तू क्यों हँसी?' उसने उत्तर दिया—"जिस बात पर महाराज हँसे, उसी पर मैं भी हँसी।" महानन्द इस बात पर और भी चिढ़ा और कहा कि अभी बतला मैं क्यों हँसा, नहीं तो तुझ को प्राणदण्ड होगा। दासी से और कुछ उपाय न बन पड़ा और उसने घबड़ा कर इसके उत्तर देने को एक महीने की मोहलत चाही। राजा ने कहा—"आज से ठीक एक महीने के भीतर जो उत्तर न देगी तो कभी तेरे प्राण न बचेंगे।" विचक्षणा के प्राण उस समय तो बच गये, परन्तु महीने के जितने दिन बीतते थे मारे चिन्ता के वह मरी जाती थी। कुछ सोच-विचार कर वह एक दिन कुछ खाने पीने की सामग्री लेकर शकटार के पास गई और रो रो कर अपनी सब

विपत्ति कहने लगी। मंत्री ने कुछ देर तक सोच कर उस अवसर की सब घटना पूछी और हँस कर कहा—"मैं जान गया राजा क्यों हँसे थे। कुल्ला करने के समय पानी के छोटे छींटों पर राजा को बटबीज की याद आई और यह भी ध्यान हुआ कि ऐसे बड़े बड़े के वृक्ष इन्हीं छोटे बीजों के अन्तर्गत हैं, किन्तु भूमि पर पड़ते ही वह जल के छींटे नष्ट हो गये। राजा अपनी इसी भावना को याद करके हँसते थे।" विचक्षणा ने हाथ जोड़ कर कहा—"यदि आप के अनुमान से मेरे प्राण की रक्षा होगी तो मैं जिस तरह से होगा, आपको क़ैदख़ाने से छुड़ाऊँगी और जन्म भर आपकी दासी होकर रहूंगी।"

राजा ने विचक्षणा से एक दिन फिर हँसने का कारण पूछा, तो विचक्षणा ने शकटार से जैसा सुना था कह सुनाया। राजा ने चमत्कृत हो कर पूछा—"सच बता, तुझसे यह भेद किसने कहा?" दासी ने शकटार का सब वृत्त कहा और राजा को शकटार की बुद्धि की प्रशंसा करते देख अवसर पाकर उसके मुक्त होने की भी प्रार्थना की। राजा ने शकटार को बन्दी से छुड़ा कर राक्षस के नीचे मंत्री बना कर रक्खा।

ऐसे अवसर पर राजा लोग बहुत चूक जाते हैं। पहिले तो किसी का अत्यन्त प्रतिष्ठा बढ़ानी ही नीति-विरुद्ध है। यदि संयोग से बढ़ जाय तो उसकी बहुत सी बातों को तरह देकर टालना चाहिए और जो कदाचित् बड़े प्रतिष्ठित मनुष्य का राजा अनादर करे तो उसकी जड़ काट कर छोड़े, फिर उसका

कभी विश्वास न करे। प्रायः अमीर लोग पहले तो मुसाहिब या कारिन्दों को बेतरह सिर चढ़ाते हैं और फिर छोटी छोटी बातों पर उनकी प्रतिष्ठा हीन कर देते है। इसी से ऐसे लोग राजाओं के प्राण के गाहक हो जाते हैं और अन्त में नन्द की भाँति उनका सर्वनाश होता है।

शकटार यद्यपि बन्दीख़ाने से छूटा और छोटा मंत्री भी हुआ, किन्तु अपनी अप्रतिष्ठा और परिवार के नाश का शोक उसके चित्त में सदा पहिले ही सा जागता रहा। रात दिन वह यही सोचता किस उपाय से ऐसे अव्यवस्थित-चित्त उद्धत राजा का नाश करके अपना बदला लें। एक दिन घोड़े पर वह हवा खाने जाता था। नगर के बाहर एक स्थान पर देखता है कि एक काला सा ब्राह्मण अपनी कुटी के सामने मार्ग की कुशा उखाड़ उखाड़ कर उनकी जड़ में मट्ठा डालता जाता है। पसीने से लथ पथ है परन्तु कुछ भी शरीर की ओर ध्यान नहीं देता। चारों ओर कुशा के बड़े बड़े ढेर लगे हुए हैं। शकटार ने आश्चर्य से ब्राह्मण से इस श्रम का कारण पूछा। उसने कहा—"मेरा नाम विष्णुगुप्त चाणक्य है। मैं ब्रह्मचर्य में नीति, वैद्यक, ज्योतिष, रसायन आदि संसार की उपयोगी सब विद्याएँ पढ़ कर विवाह की इच्छा से नगर की ओर आया था, किन्तु कुश गड़ जाने से मेरे मनोरथ में विघ्न हुआ, इससे जब तक इन बाधक कुशाओं का सर्वनाश न कर लूँगा और काम न करूँगा। मट्ठा इस वास्ते इनकी जड़ में देता हूं जिससे पृथ्वी के भीतर इनका मूल भी भस्म हो जाय।"

शकटार के जी में यह ध्यान आया कि ऐसा पक्का ब्राह्मण जो किसी प्रकार राजा से क्रुध हो जाय तो उसका जड़ से नाश करके छोड़े। यह सोच कर उसने चाणक्य से कहा कि जो आप नगर में चल कर पाठशाला स्थापित करें तो अपने को मैं बड़ा अनुगृहीत समझूँ। मैं इसके बदले बेलदार लगा कर यहाँ की सब कुशाओं को खुदवा डालूँगा। चाणक्य इस पर सहमत हुआ और नगर में आकर एक पाठशाला स्थापित की। बहुत से विद्यार्थी लोग पढ़ने आने लगे और पाठशाला बड़े धूमधाम से चल निकली।

अब शकटार इस सोच में हुआ कि चाणक्य और राजा से किस चाल से बिगाड़ हो। एक दिन राजा के घर में श्राद्ध था, उस अवसर को शकटार ने अपने मनोरथ सिद्ध होने का अच्छा समय सोच कर चाणक्य को श्राद्ध का न्योता देकर अपने साथ ले आया और श्राद्ध के आसन पर बिठला कर चला गया। वह जानता था कि चाणक्य का रंग काला, आँखें लाल और दाँत काले होने के कारण नन्द उसको आसन पर से उठा देगा, जिससे चाणक्य अत्यन्त क्रुद्ध होकर उसका सर्वनाश करेगा।

और ठीक ऐसा ही हुआ—जब राक्षस के साथ नन्द श्राद्धशाला में आया और एक अनिमन्त्रित ब्राह्मण को आसन पर बैठा हुआ और श्राद्ध के अयोग्य देखा तो चिढ़ कर आज्ञा दिया कि इसको बाल पकड़ कर यहाँ से निकाल दो। इस

अपमान से ठोकर खाये हुए सर्प की भाँति अत्यन्त क्रोधित हो कर शिखा खोल कर चाणक्य ने सब के सामने प्रतिज्ञा की कि जब तक इस दुष्ट राजा का सत्यानाश न कर लूँगा तब तक शिखा न बाँधूँगा। यह प्रतिज्ञा करके बड़े क्रोध से राजभवन से चला गया।

शकटार अवसर पाकर चाणक्य को मार्ग में से अपने घर ले आया और राजा की अनेक निन्दा करके उसका क्रोध और भी बढ़ाया और अपनी सब दुर्दशा कह कर नन्द के नाश में सहायता करने की प्रतिज्ञा की। चाणक्य ने कहा कि जब तक हम राजा के घर का भीतरी हाल न जानें कोई उपाय नहीं सोच सकते। शकटार ने इस विषय में विचक्षणा की सहायता देने का वृत्तान्त कहा और रात को एकान्त में बुला कर चाणक्य के सामने उससे सब बात का करार ले लिया।

महानन्द के नौ पुत्र थे। आठ विवाहिता रानी से और एक चन्द्रगुप्त मुरा नाम की एक नाइन से। इसी से चन्द्रगुप्त को मौर्य और वृषल भी कहते हैं। चन्द्रगुप्त बड़ा बुद्धिमान् था इसी से और आठों भाई इस से भीतरी द्वेष रखते थे। चन्द्रगुप्त की बुद्धिमानी की बहुत सी कहानियाँ हैं। कहते हैं कि एक बार रूम के बादशाह ने महानन्द के पास एक कृत्रिम सिंह लोहे की जाली के पिञ्जड़े में बन्द करके भेजा और कहला दिया कि पिञ्जड़ा टूटने न पावे और सिंह इसमें से निकल जाय। महानन्द और उसके आठ औरस पुत्रों ने इनको बहुत

कुछ सोचा, परन्तु बुद्धि ने कुछ काम न किया। चन्द्रगुप्त ने विचारा कि यह सिंह अवश्य किसी ऐसे पदार्थ का बना होगा जो या तो पानी से या आग से गल जाय, यह सोच कर पहिले उसने उस पिञ्जड़े को पानी के कुण्ड में रक्खा और जब वह पानी से न गला तो उस पिञ्जड़े के चारो तरफ आग जलवाई, जिसकी गर्मी से वह सिंह, जो लाह और राल का बना था, गल गया। एक बेर ऐसे ही किसी बादशाह ने एक अँगीठी में दहकती हुई आग, एक बोरा सरसों और एक मीठा फल महानन्द के पास अपने दूत के द्वारा भेज दिया। राजा की सभा का कोई भी मनुष्य इसका आशय न समझ सका, किन्तु चन्द्रगुप्त ने सोच कर कहा कि अँगीठी यह दिखलाने को भेजी है कि मेरा क्रोध अग्नि है और सरसों यह सूचना कराती है कि मेरी सेना असंख्य है और फल भेजने का आशय यह है कि मेरी मित्रता का फल मधुर है। इसके उत्तर मे चन्द्रगुप्त ने एक घड़ा जल और एक पिञ्जड़े मे थोड़े से तीतर और एक अमूल्य रत्न भेजा, जिसका आशय यह था कि तुम्हारी सेना कितनी भी असंख्य क्यों न हो हमारे वीर उसको भक्षण करने में समर्थ हैं और तुम्हारा क्रोध हमारी नीति से सहज ही बुझाया जा सकता है और हमारी मित्रता सदा अमूल्य और एकरस है। ऐसे ही तीन पुतली वाली कहानी भी इसी के साथ प्रसिद्ध है।

इसी बुद्धिमानी के कारण चन्द्रगुप्त से उसके भाई लोग

बुरा मानते थे और महानन्द भी अपने औरस पुत्रो का पक्ष करके इससे कुढ़ता था। यह यद्यपि शूद्रा के गर्भ से था, परन्तु ज्येष्ठ होने के कारण अपने को राज का भागी समझता था और इसी से इसका राज-परिवार से पूर्ण वैमनस्य था। चाणक्य और शकटार ने इसी से निश्चय किया कि हम लोग चन्द्रगुप्त को राज का लोभ देकर अपनी ओर मिला लें और नन्दों का नाश करके इसी को राजा बनावें।

यह सब सलाह पक्की हो जाने के पीछे चाणक्य तो अपनी पुरानी कुटी में चला गया और शकटार ने चन्द्रगुप्त और विचक्षणा को तब तक सिखा पढ़ा कर पक्का करके अपनी ओर फोड़ लिया। चाणक्य ने कुटी में जा कर हलाहल विष मिले हुए कुछ ऐसे पकवान तैयार किये जो परीक्षा करने में न पकड़े जाय, किन्तु खाते ही प्राण नाश हो जाय। विचक्षणा ने किसी प्रकार से महानन्द को पुत्रो समेत यह पकवान खिला दिया, जिससे बिचारे सब के सब एक साथ परमधाम को सिधारे।

चन्द्रगुप्त इस समय चाणक्य के साथ था। शकटार अपने दुख और पापों से सन्तप्त हो कर निविड़ वन मे चला गया और अनशन करके प्राण त्याग किये। कोई कोई इतिहास-लेखक कहते हैं कि चाणक्य ने अपने हाथ से शस्त्र द्वारा नन्द का वध किया और फिर क्रम से उसको पुत्रों को भी मारा, किन्तु इस विषय का कोई दृढ़ प्रमाण नही है। चाहे जिस प्रकार से हो चाणक्य ने नन्दों का नाश किया, किन्तु केवल

पुत्र सहित राजा के मारने ही से वह चन्द्रगुप्त को राजसिंहासन पर न बैठा सका, इससे अपने अन्तरंग मित्र जीवसिद्धि को क्षपणक के वेष में राक्षस के पास छोड़ कर आप राजा लोगों से सहायता लेने की इच्छा से विदेश निकला। अन्त में अफ़ग़ानिस्तान वा उसके उत्तर ओर के निवासी पर्वतक नामक लोभपरतन्त्र एक राजा से मिल कर और उसको जीतने के पीछे मगध राज्य का आधा भाग देने के नियम पर उसको पटने पर चढ़ा लाया। पर्वतक के भाई का नाम वैरोधक और पुत्र का मलयकेतु था। और भी पाँच म्लेच्छ राजाओं को पर्वतक अपने सहाय को लाया था।

इधर राक्षस मंत्री राजा के मरने से दुखी हो कर उसके भाई सर्वार्थसिद्ध को सिंहासन पर बैठाकर राज-काज चलाने लगा। चाणक्य ने पर्वतक की सेना ले कर कुसुमपुर को चारों ओर से घेर लिया। पन्द्रह दिन तक घोरतर युद्ध हुआ। राक्षस की सेना और नागरिक लोग लड़ते लड़ते शिथिल हो गये; इसी समय में गुप्त रीति से जीवसिद्धि के बहकाने से राजा सर्वार्थ-सिद्ध वैरागी हो कर वन में चला गया, इस कुसमय में राजा के चले जाने से राक्षस और भी उदास हुआ। चन्दनदास नामक एक बड़े धनी जौहरी के घर में अपने कुटुम्ब को छोड़ कर और शकटदास कायस्थ तथा अनेक राजनीति जाननेवाले विश्वासपात्र मित्रों को और कोई आवश्यक काम सौंप कर राजा सर्वार्थसिद्ध के फेर लाने को आप तपोवन की ओर गया।

चाणक्य ने जीवसिद्धि द्वारा यह सब सुन कर राक्षस के पहुँचने के पहले ही अपने मनुष्यों से राजा सर्वार्थसिद्ध को मरवा डाला। राक्षस जब तपोवन में पहुँचा और सर्वार्थसिद्ध को मरा देखा तो अत्यन्त उदास होकर वहीं रहने लगा। यद्यपि सर्वार्थसिद्ध के मार डालने से चाणक्य की नन्दकुल के नाश की प्रतिज्ञा पूरी हो चुकी थी, किन्तु उसने सोचा कि जब तक राक्षस चन्द्रगुप्त का मंत्री न होगा तब तक राज्य स्थिर न होगा। वरंच बड़े विनय से तपोवन में राक्षस के पास मन्त्रित्व स्वीकार करने का सन्देशा भेज़ा, परन्तु प्रभु-भक्त राक्षस ने उसको स्वीकार नहीं किया।

तपोवन में कई दिन रह कर राक्षस ने यह सोचा कि जब तक पर्वतक को हम न फोड़ेंगे काम न चलेगा। यह सोच कर वह पर्वतक के राज्य मे गया और वहां उसके वूढे मंत्री से कहा कि चाणक्य वड़ा दग़ाबाज है, वह आधाराज्य कभी न देगा, आप राजा को लिखिए वह मुझसे मिलें तो मैं सब राज्य उनको दूं। मंत्री ने पत्र द्वारा पर्वतक को यह सब वृत्त और राक्षस की नीति-कुशलता लिख भेजी और यह भी लिखा कि मैं अत्यन्त वृद्ध हूँ, आगे से मन्त्री का काम राक्षस को दीजिए। पाटलीपुत्र विजय होने पर भी चाणक्य आधा राज देने में विलम्ब करता है, यह देख कर सहज लोभी पर्वतक ने मंत्री की बात मान ली और पत्र द्वारा राक्षस को गुप्त रीति से अपना मुख्य-अमात्य बना कर इधर ऊपर के चित्त

से चाणक्य से मिला रहा। जीवसिद्धि के द्वारा चाणक्य ने राक्षस का सब हाल जान कर अत्यन्त सावधानतापूर्वक चलना आरम्भ किया। अनेक भाषा जाननेवाले बहुत से धूर्त पुरुषों को वेष बदल बदल कर भेद लेने को चारों ओर नियुक्त किया। चन्द्रगुप्त को राक्षस का कोई गुप्तचर धोखे से किसी प्रकार की हानि न पहुचावे इसका भी पक्का प्रबन्ध किया और पर्वतक की विश्वासघातकता का बदला लेने के दृढ संकल्प से, परन्तु अत्यन्त गुप्त रूप से, उपाय सोचने लगा।

राक्षस ने केवल पर्वतक की सहायता से राज मिलने की आशा छोड़ कर कुलूत, मलय, काश्मीर, सिन्धु और पारस इन पाँच देशों के राजाओं से सहायता ली। जब इन पाँचों देश के राजाओं ने बड़े आदर से राक्षस को सहायता देना स्वीकार किया तो वह तपोवन के निकट फिर से लौट आया और वहां से चन्द्रगुप्त के मारने को एक विषकन्या भेजी और अपना विश्वासपात्र समझ कर जीवसिद्धि को उसके साथ कर दिया। चाणक्य ने जीवसिद्धि द्वारा यह सब बात जान कर और पर्वतक की धूर्तता और विश्वासघातकता से क्रुद्ध कर प्रगट में इस उपहार को बड़ी प्रसन्नता से ग्रहण किया और लानेवाले को बहुत सा पुरस्कार देकर विदा किया। साँझ होने के पीछे धूर्ताधिराज चाणक्य ने इस कन्या को पर्वतक के पास भेज दिया और इन्द्रियलोलुप पर्वतक उसी रात को उस कन्या के सङ्ग से मर गया। इधर चाणक्य ने यह सोचा कि

मलयकेतु यहाँ रहेगा तो उसको राज्य का हिस्सा देना पड़ेगा, इससे किसी तरह इसको यहाँ से भगाव तो काम चले। इस कार्य के हेतु भागुरायण नामक एक प्रतिष्ठित विश्वासपात्र पुरुष को मलयकेतु के पास सिखा पढा कर भेज दिया। उसने पिछली रात को मलयकेतु से जाकर उसका बड़ा हितू बन कर उससे कहा कि आज चाणक्य ने विश्वासघातकता करके आपके पिता को विष-कन्या के प्रयोग से मार डाला और अवसर पाकर आपको भी मार डालेगा। मलयकेतु बेचारा इस बात के सुनते ही सन्न हो गया और पिता के शयनागार में जाकर देखा तो पर्वतक को बिछौने पर मरा हुआ पाया। इस भयानक दृश्य के देखते ही मुग्ध मलयकेतु के प्राण सूख गये और भागुरायण की सलाह से उस रात को छिप कर कहाँ से भाग कर अपने राज्य की ओर चला गया। इधर चाणक्य के सिखाये भद्रभट इत्यादि चन्द्रगुप्त के कई बड़े बड़े अधिकारी प्रकट में राजद्रोही बन कर मलयकेतु और भागुरायण के साथ ही भाग गये। राक्षस ने मलयकेतु से पर्वतक के मारे जाने का समाचार सुन कर अत्यन्त सोच किया और बड़े आग्रह और सावधानी से चन्द्रगुप्त और चाणक्य के अनिष्ट साधन में प्रवृत्त हुआ।

चाणक्य ने कुसुमपुर में दूसरे दिन यह प्रसिद्ध कर दिया कि पर्वतक और चन्द्रगुप्त दोनों समान बन्धु थे, इससे राक्षस ने विष कन्या भेज कर पर्वतक को मार डाला और नगर के लोगों के चित्त पर, जिनको कि यह सब गुप्त अनुसन्धि न

मालूम थी, इस बात का निश्चय भी करा दिया। इसके पीछे चाणक्य और राक्षस के परस्पर नीति की जो चोट चली है उसी का इस नाटक में वर्णन है।

—हरिश्चन्द्र

कुन्ती और कर्ण

(१)

जब दुर्योधन किये विना संग्राम सरासर,
देने लगा न भूमि सुई की नोक बराबर।
जब न एक भी बात सन्धि की उसने मानी,
तब विग्रह को विवश हुए पाण्डव विज्ञानी॥

(२)

सुन कर यह सब हाल युद्ध होना निश्चित कर,
कुन्ती कर्ण समीप गई गंगा के तट पर।
था उसका उद्देश कर्ण को समझाने का,
तथा मना कर आत्म-पक्ष में कर लेने का॥

(३)

वहाँ कर्ण आकण्ठ-मग्न सुरसरि-नीर में,
कर-युग ऊँचे किये लग्न था तप गंभीर में।
जप से हुआ निवृत्त न वह बलगर्वित जौ लौं,
राह देखती रही खड़ी उसकी यह तौ लौं॥

(४)

किये चित्त ऐकाग्र सूर्य्य मे दृष्टि लगाये,
अस्फुट स्वर से वेद-मन्त्र पढ़ता मन भाये ।
सलिल-मग्न आकाश सुहाता था वह ऐसे,
अलि-कुल कलकल-कलित-कमल फूला हो जैसे ॥

(५)

गंगा-गर्भ-प्रविष्ट सूर्य्य-सुत शोभाशाली,
दिखलाता था छटा-एक वह नई निराली ।
सूर्य्योन्मुख था दृश्य अचल यों मुख-मण्डल का—
जल में ज्यों प्रतिविम्ब सूर्य्य ही हो झलका ॥

(६)

कर के पूरा ध्यान देख कुन्ती को आगे,
बोला वह यों वचन विनयपूर्वक अनुरागे ।
अधिरथ-सुत यह कर्ण तुम्हें करता प्रणाम है,
हो, आर्य्ये ! आदेश कौन मम योग्य काम है ॥

(७)

देकर तब आशीष उसे समुचित हितकारी,
बोली कुन्ती गिरा प्रकट उससे यों प्यारी,
"बढ़े तुम्हारी कीर्ति वत्स ! नित भूमण्डल में ,
आखण्डल-सम कहें सकल जन तुमको बल में ॥

(८)

"अधिरथ-सुत की बात वदन से तुम न बखानो,
शुद्ध सूर्य्य-सुत श्रेष्ठ सदा अपने को जानो।
राधा-सुत तुम नहीं, पुत्र मेरे हो प्यारे,
मानो मेरे वचन सत्य ये निश्चय सारे॥

(९)

"आमन्त्रित कर सूर्य्य देव को मैंने मन में,
मन्त्र-शक्ति से तुम्हें जना था पिता-भवन में।
आत्म-विषय मे विज्ञ न होने से तुम सम्प्रति,
रखते हो रिपु-रूप कौरवो में अनुचित रति॥

(१०)

"अहो देव! उत्पन्न किया था जिसको मैंने,
सुर-सम्भव नर-जन्म दिया था जिसको मैंने।
वही आज तुम वैर पाण्डवो से रखते हो,
कर्तव्याकर्तव्य नहीं कुछ भी लखते हो॥

(११)

"होता तुमसे सदा पाण्डवो का अनहित है,
सोचो तो हे वत्स! तुम्हें क्या यही उचित है?
सुत-सेवा उपहार दिया जाता क्या यों ही?
मातृ-ऋण-प्रतिकार किया जाता क्या यों ही?

(१२)

"जननी का सन्तोष पूर्ण करना मनमाना,
धर्म्मज्ञों ने यही धर्म्म का मर्म्म बखाना।
सो हे धार्म्मिक-धीर! तुम्हारा है सब जाना,
फिर क्या समुचित नहीं पाण्डवों को अपनाना?

(१३)

सदाचरण-रत सदा युधिष्ठिर अनुज तुम्हारे,
भीम, नकुल, सहदेव, पार्थ अनुगामी सारे।
हो तुम मम सुत प्रथम पाण्डवों के प्रिय भ्राता,
सो सब सोच विचार बनो अब उनके त्राता॥

(१४)

"पार्थ भुजों से हुई उपार्जित सब सुखकारी,
दुर्योधन से हरी गई जो छल से सारी।
धर्म्मराज की वही राज-लक्ष्मी अतिप्यारी,
भोगो अरि-संहार स्वयं तुम हे बलधारी॥

(१५)

"तुम लोगों को देख भेंटते बन्धु-भाव से,
प्रेम और आनन्द सहित अत्यन्त चाव से।
पामर कौरव जलें, स्वजन सारे सुख पावें,
मन-चीते सब काम तभी मेरे हो जावें॥

(१६)

"राम-कृष्ण का नाम लिया जाता है जैसे,
सूर्य्य-चन्द्र को याद किया जाता है जैसे।
वैसे ही सब लोग कहें कर्णार्जुन मुख से,
करो वीर तुम वही छुड़ा कर मुझको दुख से॥

(१७)

"कर्णार्जुन-सम्मिलन जगत को आज बता दो,
बन्धु-बन्धु-सम्बन्ध सभी को प्रकट जता दो।
प्रेम-सिन्धु में स्वजन-वर्ग को शीघ्र नहा दो,
शत्रु-जनों का गर्व खर्व कर सब बहा दो॥

(१८)

"राम-भरत की भेंट हुई थी, पहले जैसे,
कर्ण-युधिष्ठिर-मिलन आज देखे सब तैसे।
आई हूं मैं इसी लिये इस समय यहाँ पर,
करो पुत्र स्वीकार वचन मेरे ये हितकर॥"

(१९)

मर्म-स्पर्शी वचन श्रवण कर भी कुन्ती के,
बदले नहीं विचार कर्ण के निश्चल जी के।
प्रत्युत्तर फिर लगा उसे देने वह ऐसे,
मुरज मधुर गम्भीर घोष करता है जैसे॥

(२०)

"हे वर वीर प्रसू ! वचन से सत्य तुम्हारे,
जन्म-कथा निज जान अङ्ग पुलकित मम सारे।
सूत-वंश में हुये किन्तु संस्कार हमारे,
अधिरथ राजा विदित हमारे पालक प्यारे॥

(२१)

"दुर्योधन ने सदा हमारा मान किया है,
प्रेमसहित धन धान्य पूर्ण बहु राज्य दिया है।
किये सतत उपकार जिन्होंने ऐसे ऐसे,
त्यागें उनका सङ्ग कहो फिर हम अब कैसे॥

(२२)

"टाले नहीं कदापि जिन्हों ने वचन हमारे ;
बन्धु-भाव जो रहे सदा ही हम पर धारे।
उनका ऐसे समय साथ कैसे हम छोड़ें ?
तोड पूर्व-सम्बन्ध वैर कैसे हम जोड़ें ?

(२३)

"किये भरोसा सदा हमारा ही निज मन में,
दुर्योधन ने सकल कार्य हैं किये भुवन में।
फिर भी जो साहाय्य करें उनका न कहीं हम,
यही कहेंगे विज्ञ मही में मनुज नहीं हम॥

(२४)

"इस कारण हे जननि! रहेंगे जीवित जौ लौं,
होने देंगे अहित न दुर्योधन का तौ लौं।
लेंगे हम आमरण पक्ष उस बलधारी का,
करना क्या अपकार चाहिये उपकारी का?

(२५)

"कौरवपति की ओर धर्म्म को हम पालेंगे,
किन्तु तुम्हारे भी न वचन को हम टालेंगे।
एक पार्थ को छोड़ तुम्हारे हित-कारण से,
मारेंगे हम नही किसी पाण्डव को रण से॥

(२६)

"अर्जुन ही या हमीं एक जन लड़ स्वपक्ष में,
पावेंगे यदि विमल वीरगति को समक्ष में।
तो भी सुन हे जननि! रहेंगे पाँच तुम्हारे,
होंगे मिथ्या नहीं कभी ये वचन हमारे॥"

(२७)

दृढ़-प्रतिज्ञ यों देख कर्ण को कुन्ती रानी,
बोल सकी इस हेतु न उससे फिर कुछ वाणी॥
इसी विषय का चित्र बना कर यह मन भाया,
ब्रज बाबू! चातुर्य्य-चरम तुमने दिखलाया॥

यह दृश्य देख कर कौन जन,
करता यों न विचार है—
"इस क्षण-भङ्गुर संसार में
एक धर्म्म ही सार है ॥"

—मैथिलीशरण गुप्त।

धैर्य

यह भी मनुष्य में एक विलक्षण गुण है। जितने काम है, वे धीरज ही से अच्छे होते हैं। चपल पुरुष से प्रायः काम बिगड़ते हैं। जिसको धैर्य्य नही वह थोड़ी ही बात में घबरा जाता है और घबराने के कारण फिर उसको यह विवेक नही रहता कि क्या हमारा कर्त्तव्य है, और क्या नहीं। तब फिर बिना विचारे और बिना समझे चाहे जो कर डालता है, तो यह कब सम्भव है कि इस प्रकार के काम ठीक ही उतरें। ऐसा प्रसिद्ध है कि :—

"बिना विचारे जो करै सो पाछे पछताय।
काम बिगारै आपनो जग में होत हँसाय ॥"

जो लोग थोडी ही घबराहट में अपने से बाहर हो जाते हैं, जने जने के पाँव पड़ते हैं, उनसे अधिक और कौन दुखी होगा। इसलिये सदा धीरज ही धरना चाहिये। जैसे कहा है कि :—

कवित्त।

"कैसे काज ह्वै हैं हाय बात सब बूड़ि जैहै
कादरता ऐसी कवौं भूलिहूँ न करिये।
करिकै विवेक को सुसाज निज जी में पचि
रचि के उपाय निज व्याकुलाई हरिये॥
ईसुर कौं याद कै जनैये पुरुषारथ को
दत्त कहैं काहू के न जाय पाँव परिये।
हारिये न हिम्मत सुकीजे कोटि किम्मत[1] कौं
आपति में पति राखि धीरज को धरिये॥'

इस संसार में ऐसे क्षुद्र जन अनेक हैं जो कुछ शोक उपस्थित होने से घबरा के कुएँ में गिर प्राण दे देते हैं अथवा विष शस्त्रादि से आत्मघात कर लेते हैं। कितने ही अधीर पुरुष आग लगी देख घबरा के घर के कोने में घुसते जाते हैं और निकलने का पथ भूल प्राण देते हैं, कितने ही वन में सिंह और भालू का नाम सुनते ही काठ के खिलौने से खड़े हो जाते हैं और वनपशुओं के ग्रास में पडते हैं, कितने ही घबराये पथिकों के समूह को अल्प-सामर्थ्य तीन चार डाकू लूट लेते हैं और वे विचारे धीरजविहीन हो आपस मे एक दूसरे को धरते पकड़ते रोते हाहा करते लुट जाते हैं। धैर्य्य के छोड़ देने से कितने अनर्थ होते हैं जो कहे नहीं जा सकते। देखिए

१—कीमत, मोल, उपाय।

धीर और अधीर का कितना अन्तर होता है। एक अधीर पुरुष को दूर से सिंह को देखते ही घिग्घो बँध जाती है और दूसरे धीर पुरुष जब तक सिंह लपक अपने पास आवे तब तक उसे गोली भरके मारते हैं।

किसी पुरुष ने सिंह का बच्चा पाला। वह सदा उस पर हाथ फेरता, उससे प्यार करता, और उसको अपने साथ रखता। वह उससे ऐसा हिल मिल गया था कि उस सिंह के बच्चे को उसने कुत्ते ऐसा बना लिया था। धीरे धीरे वह सिंह का बच्चा बड़ा हो पूरा प्रबल सिह हुआ। पर तो भी उस सिंह का अपने स्वामी पर वैसा हो प्रेम था, मानों उस सिंह को यह ज्ञान ही न था कि यह स्वामी वैसे ही रुधिर माँस का पिण्ड है जैसा मैं प्रति दिन बड़े प्रेम से खाता हूँ। वह सिंह अपने स्वामी को दूर से देखते ही दौड़ के आता और पूँछ सटका पाँव चाटने लगता, उसके पीछे पीछे गिरता और प्रत्येक बात में प्यार की आँख से देखता।

एक समय एक कुरसी पर उसका स्वामी बैठा था और हाथ में एक छोटी सी किताब लिए पढ रहा था। भोर का समय था। ठण्ढी ठण्ढी बयार चल रही थी। सामने फुलवारी के पौधों के पत्ते ओस की छोटी छोटी बूँदों का बोझा उठा रहे थे। कुन्द और सदागुलाब की सुगन्ध से आकाश भी प्रसन्न देख पड़ता था। इतनी देर में सामने का पिञ्जरा उसकी आज्ञा से खोला गया और सिंह भी पूँछ हिलाता उसके पास आया।

उसके स्वामी ने पहिले उसके सिर पर हाथ फेरा, फिर पुचकार पुचकार गर्दन झाड़ अपनी बाईं ओर बैठाया। यह भी बाईं ओर से कुछ पीछे तक कुरसी घेरता हुआ बैठ गया।

उसका स्वामी पुस्तक पढ़ता जाता था। कभी कभी अपने पाले हुए सिंह-बच्चे को देखता और कभी बायाँ हाथ उसके कान और सिर पर फेरता और अपने को देख, चारों ओर इस भाव की आँख पसारता कि मेरे ऐसा संसार में और कौन है। जिस सिंह के नाम सुनते लोगों की बाई पचती है वही मेरे साथ बकरी की भाँति पूँछ हिलाता दौड़ता है। किसका सामर्थ्य है कि ऐसे समय मेरे सामने आवे? मैं अँगुली से भी संकेत करूँ तो यह बड़े बड़े गजराजों का भी कुम्भस्थल चीर डाले और रुधिर की नदी बहा दे।' इन्हीं घमण्डों में भर इधर उधर देख-भाल वह फिर अपने हाथ की किताब पढ़ने लगा। उसका बायाँ हाथ बाईं ओर कुरसी के नीचे लटकता था। यह सिंह उसी हाथ के पास मुँह किये बैठा था और धीरे धीरे उसका हाथ चाटता जाता था। उसके स्वामी की कुछ भी उधर दृष्टि न थी। यहाँ तक कि उसे हाथ चाटते चाटते लगभग आधा घण्टा हो गया। तब उसकी जीभ की रगड़े से हाथ में कुछ रुधिर चमचमा आया और सिंह की जीभ में कुछ स्वाद लगने लगा। जब इनका हाथ कुछ छरछराया तो इन्होंने अकस्मात् अपना हाथ खींचा। उस समय पहले तो सिंह ने जीभ के अल्सेट से हाथ खींचने न दिया और इन्होंने झटका तो सिंह गरज उठा।

इन्होंने देखा कि सिंह की त्योरी बदली। तब यदि उसी समय घबरा फिर हाथ खींचते तब तो समाप्त थे, पर इन्होंने धीरज को स्थान दिया और हाथ वैसे ही सिंह के मुँह के पास रक्खा और पोथी की ओर मुँह कर अपने नौकर को पुकारा। नौकर के सामने आते ही उस सिंह-प्रेमी ने कहा कि चटपट जाओ और बङ्गले में भरी हुई दुनाली बन्दूक धरी है सो लाकर मेरे पीछे से झुक कर इस पाजी के पेट में और खोपड़े में मारो, नहीं तो दो मिनट में यह मुझे खा जायगा।

वह नौकर भी रङ्ग देख काँप उठा पर धीरज धर चट घर गया और बन्दूक ले आया। कदाचित् देर तो आधे हीं मिनट की हुई होगी पर सब कोई समझ सकते हैं जिसका रुधिर सिंह चाट रहा था और जिसे पलक पलक पर मौत का भय होता था उस विचारे को वह अल्प क्षण भर भी कितना बड़ा और कड़ा जान पड़ा होगा।

इतने में तो उस चतुर नौकर ने आड़ ही आड़ में समीप आ हाथ डेढ़ हाथ की दूरी से सिंह के पेट पर ऐसी गोली लगाई की वह मछली की भाँति भूमि में लोट गया और दूसरी उसके कपाल पर ऐसी दी कि सिंह ने साँस तक न लिया।

देखिये यदि यह बिचारा पहिले ही घबरा जाता तो प्राण जाने में क्या सन्देह था। पुराणों मे जितनी नल, राम, युधि-ष्ठिरादि को कथायें हैं उनमें आदिसे अन्त तक धैर्य्य का प्रकरण

भरा है, जितने आज तक एक से एक पराक्रमी और वीर प्रतापी तथा यशस्वी पुरुष हो गये हैं उनकी उन्नति का प्रधान कारण धैर्य्य ही मिला है।

—अम्बिकादत्त व्यास।

ग्राम्य जीवन

अहा ग्राम्य जीवन भी क्या है,
क्यों न इसे सब का मन चाहे ?
थोड़े मे निर्वाह यहाँ है,
ऐसी सुविधा और कहाँ है॥ १॥
यहाँ शहर की बात नहीं है,
अपनी अपनी घात नहीं है।
आडम्बर का काम नही है,
अनाचार का नाम नहीं है॥ २॥
वह अदालती रोग नहीं है,
अभियोगों का योग नहीं है।
मरे फौजदारी की नानी,
दिवाना करती दीवानी॥ ३॥
यहाँ गठकटे चोर नहीं हैं,
तरह तरह के शोर नहीं हैं।
गुण्डों की न यहाँ बन आती,
इज्जत नहीं किसी की जाती॥ ४॥

ठहराया जाता है ऐसे—
कोई सम्बन्धी हो जैसे ॥ १० ॥
जगती कहीं ज्ञान की ज्योति,
शिक्षा की यदि कमी न होती।
तो ये ग्राम स्वर्ग बन जाते,
पूर्ण शान्ति-रस में सन जाते ॥ ११ ॥

—मैथिलीशरण गुप्त।

राजसिंह

अनन्त मिश्र ने पहिनने के कपडे, छाता, लाठी, डुरसा, चन्दन इत्यादि प्रयोजनीय वस्तु लेके और गृहिणी से बिदा होके उदयपुर को प्रस्थान किया। मिश्राणी ने उदास होके पूछा किस काम के लिये जाते हो ?

मिश्र महाशय ने कहा—"राना के यहाँ कुछ वृत्ति पाने का आशरा है" बस यह सुन के पुरोहितानीजी शान्त हो गई, अर्थ लाभ की आशारूपी वृष्टि ने विरह-वह्नि को बुझा दिया और पुरोहितजी ने अपना मार्ग लिया।

मार्ग अति दुर्गम था और विशेषतः पर्वतों की चढ़ाई उतराई और भी कठिन। कहीं टिकने का ठौर ठिकाना भी नहीं। एकाहारी ब्राह्मण दिन भर चल के जिस दिन जहाँ आश्रम ग्रहण करते थे वहीं खाने पीने का भी जोग लगता था। मार्ग में

लुटेरों का डर भी था और इनके पास रत्नमय आभूषण ठहरा इससे अकेले न चलते थे। कोई साथी जब तक न मिलता था तब तक पाँव न धरते थे। जहाँ से साथ छूट जाता था वहीं विश्राम-स्थान कि चिन्ता बढ़ती थी' एक दिन किसी देवालय में ठहरे थे और संगी की खोज में थे इतने में भोर हुआ तो देखा कि चार जने बणिक जो रात भर रहे भी उसी मन्दिर में थे पर्वत पर आरोहण कर रहे हैं। उन्होंने मिश्र से पूछा—"क्यों महाराज जी किधर जाओगे।" ब्राह्मण देवता ने कहा—"उदयपुर जायँगे।" वे बोले—"हमें भी तो वहीं जाना है चलिये साथ ही चलें।" यहाँ क्या था मिश्र जी तो चाहते ही थे चल दिये। मार्ग में इन्होंने पूछा—"उदयपुर अब है कितनी दूर ?" बणिकों ने कहा—"अब कितनी दूर क्या ? सन्ध्या तक पहुँचते हैं। यह सब राना ही जी की तो धरती है।"

इसी प्रकार की बातें करते करते पाँचों यात्री चले जाते थे। पर्वत का मार्ग, कठिन चढाई, राह में बस्ती का कोसों तक नाम नहीं। पर अब चढ़ाई निपट गई थी। सम भूमि निकट ही थी। इतने में पथिकों ने एक परम सुहावनी अधित्यका में पदार्पण किया जिसके दोनों ओर तनिक ही ऊँची पहाडियाँ थी। हरित वृक्षों की श्रेणी शोभा दे रही थी। मध्य में कलनादिनी क्षुद्र प्रवाहिणी नदी का नील काँच-प्रतिम सफेद जल-प्रवाह चट्टानों को स्वच्छ करता हुआ वन भूमि की ओर प्रवाहित हो रहा था और इसी धारा के तीर तीर मनुष्यों के चलने योग्य पग

दण्डी थी। उस पथरेखा का अवलम्ब करनेवाले यात्री को कोई देख न सकता था जब तक पर्वत की चोटी पर से न देखे ?"

इस शून्य मार्ग में पहुँचते ही एक साथी ने ब्राह्मण देवता से पूछा, 'तुम्हारे पास कितना धन है ?"

यह सुन के मिश्र महाशय आश्चर्य और भय के मारे सुन्न हो गये। काटो तो रुधिर नहीं। जी मे समझे कि यहाँ लुटेरोँ का डर अधिक है इसी से सावधान करने के लिये पूछते होँगे पर दुर्बल की भूल केवल झूठ है। इससे उत्तर दिया, "हम भिक्षुक ब्राह्मण हैं। हमारे पास धन कहाँ से आया ?" बणिक ने कहा—"जो कुछ हो सो हमें दे दो नहीं तो तुम्हारे पास रह भी न सकेगा।"

देवताजी सिटपिटा गये और लगे इधर उधर की लेने। कभी सोचने हैं रत्नकङ्कण इनको दे दें तो सुभीते से रहेगा, कभी कहते हैं इन्हें हम न जानते हैं न बूझते, इनका विश्वास ही क्या ? ऐसे ही ऐसे विचार करके फ़िर कहा, "मेरे पास क्या धरा है ? भिक्षामात्र धन है।" पर संसार का नियम है कि विपत्तिकाल में जो बावन कोठोँ में मन दौड़ाता है वही मारा जाता है।

तदनुसार बणिक-वेशधारी दस्यु ताड़ गये कि इसके पास अवश्य कुछ गहरी रोकड़ है, इसी से ऐसी बाते कहता है। फिर क्या था बस एक ने देवता को धर पटका और छाती पर चढ़ बैठा, तथा हाथ से मुँह दबा लिया कि चिल्ला न उठे। जब मिश्र महाराज को बोलने की भी सामर्थ्य न रही तो भगवान

के नामस्मरण के सिवा कर क्या सकते थे? दूसरे लुटेरे ने उनकी गठरी पर हाथ मारा। देखता है तो एक रत्नमय गजरा और दो पत्र तथा दो ही मोहरें बँधी हैं। उन्हें अंटी मे करके अपने एक सहचर से कहा—"अब ब्रह्महत्या लेने का कोई काम नहीं है, जो कुछ पूँजी थी वह ले ली, बस जाने दो"—साथी ने उत्तर दिया—"नहीं छोड़ देना ठीक न होगा। यह छुटते ही हल्ला मचावेगा, जानते हो आज कल राजसिंह का कैसा तनतना है? उनके डर से वीर लोगों को पेट भर खाने का जोग नहीं लगता। इससे आओ इसे इसी पेड़ मे बाँध दें और यहाँ से नो दो ग्यारह हों।"

यह बात सब के दिल में बैठ गई। इससे अनन्त मिश्र के हाथ पाँव और मुख उन्हीं के वस्त्र से कस कर एक निकटस्थ वृक्ष से बाँध दिया और पत्र तथा आभूषणादि ले के पास ही वाली पगदण्डी की राह से पहाड़ियों के मध्य वे अदृश्य हो गये। उस समय एक अश्वारोही पुरुष पर्वत शिखर से यह चरित्र देख रहा था, पर दस्युगण भागने की धुन में उसे न देख सके और उस मार्ग को छोड़ के वन की राह से उन्होंने पथ ग्रहण किया कि कोई देख न सके और कुछ ही दूर चलके वे एक शून्य गुफा में जा छिपे। इस गुफा के भीतर खाने सोने रसोई बनाने आदि सब बातों का सुभीता था।

देखने से जान पड़ता था कि यह लोग कभी कभी इसमें निवास करते हैं। क्योंकि जल भरा घड़ा तक प्रस्तुत था।

लुटेरे इस स्थान पर पहुँच कर तम्बाकू भर के पीने लगे और एक जना रसोई बनाने का सम्भार करने लगा तब तक एक बोला—"मानिकलाल! रसोई वसोई पीछे होती रहेगी पहिले आओ माल का बन्दोबस्त कर डालें।" मानिकलाल ने कहा—"ठीक है पहिले यही होना चाहिए।" अस्तु, अशरफ़ियाँ चार खण्ड में काटी गईं और आपस में बाँटी गईं और रत्नकङ्कण के लिये यह निश्चय हुआ कि बेच कर मूल्य विभक्त हो जायगा पर चिट्ठियाँ क्या की जायें इसका निर्णय होने लगा।

दलपति ने कहा—'क़ाग़ज को क्या करोगे जला के फेंक दो— और इसी निमित्त मानिकलाल को दे दो।' मानिकलाल कुछ लिखना पढ़ना जानते थे इससे वह उन्हें पढ़ कर प्रसन्न हो के बोले—"ये चिट्ठियाँ जलानी न चाहिए इनसे तो रोजगार लग सकता है।" इस पर तीनों जने क्या क्या करने लगे। मानिक ने चञ्चलकुमारी का वृत्तान्त कह सुनाया तब चोर आनन्दित हो गये।

मानिकलाल ने फिर कहा—"ये चिट्ठियाँ राना को दी जाय तो इनाम मिल सकता है।" मुखिया ने उत्तर दिया—"पागल हो! जो कहीं राना पूछ बैठे कि ये तुमने कहाँ पाई हैं तो जवाब क्या दोगे? क्या उनसे कहोगे कि राहज़नी की है? तब तो इनाम के बदले सज़ा ही मिलेगी, कि नहीं? इससे बादशाह को देनी चाहिए क्योंकि ऐसी बातों का खोज बताने से गहिरी जमा मिल सकती है इससे"... यह बात पूरी न होने पाई थी

कि देखते देखते चक्का का सिर धड़ से अलग होके धरती पर नाचने लगा।

जिस अश्वारोही का वृत्तान्त पहिले लिख चुके हैं उसने पर्वत के ऊपरी भाग से देखा कि चार जने एक मनुष्य को बाँध कर रफूचक्कर हो गये। इसके उपरान्त क्या हुआ सो न जान पड़ा। क्योंकि यह दूर था इससे चुपचाप ताड़ने लगा कि देखें चारों जाते किधर हैं। तदनुसार जब लोग नदी के मोड़ से फिर के पर्वतों के मध्य अदृश्य हो गये उस समय यह घोडे पर से उतर के बोला—"विजय! हम अभी आते हैं। तुम यहाँ खड़े रहना हिनहिनाना मत, भला"—अश्व स्थिर भाव से खड़ा हो रहा और आरोही तीव्र वेग से पर्वत की उतराई में चल दिया। यह हम पहिले कही चुके हैं कि पहाड़ बहुत ऊँचा नहीं है। अस्तु अश्वारोही मिश्र महाशय के निकट आया और उनके बन्धन को खोल के उनसे प्रश्न किया—"बतलाओ तो हुआ क्या?" मिश्रजी ने कहा—"हम चार जनों के साथ आ रहे थे। उन्होंने राह में कहा था कि हम बनिये हैं। इससे हमने बिना चीन्हे विश्वास कर लिया था पर यहाँ पहुँचने पर उन्होंने हमें मारा और जो कुछ हमारे पास था सब छीन कर भाग गये।

अश्वारोही—"तुम्हारे पास था क्या क्या।

मिश्र—"महाराज एक मोतियों का गजरा था दो मोहरें थीं और दो पत्रिकाएँ।"

अश्वा०—"अच्छा तुम यहीं बैठे रहना हम जाते हैं उनका पता लगाने"—

मिश्र—"आप कैसे पता पा सकेंगे? वह चार हैं और आप अकेले!"

अश्वा०—"उः इसका क्या चिन्ता है? हम राजपूत हैं!"

अनन्त मिश्र ने देखा कि निःसन्देह यह योद्धा होगा, क्योंकि कटि में तलवार और तमंचा है, हाथ में भाला है इससे विवाद करना उचित नहीं।

राजपुत्र ने दस्युओं को जिस ओर जाते देखा था उधर ही बड़ी सावधानी से गमन किया पर बन के मध्यभाग मे पहुँचने पर वह मार्ग का निश्चय न कर सका कि किधर जाना चाहिए, न चोरों का ही खोज मिला, इससे पुनः पर्वत के शिखर का मार्ग लिया। चलते चलते कुछ काल में इधर उधर दृष्टि दौड़ाई तो देखा कि कुछ दूर पर चार जने बन में छिपे हुए जा रहे हैं। अकस्मात् वहीं पर ठहर कर देखने लगा कि यह किधर जाते हैं।

तदनुसार जान पड़ा कि वे एक पहाड़ी के उतार पर पहुँच कर लुप्त हो गये, उस समय राजपूत ने विचार किया कि हो न हो वहीं कहीं पर बैठ रहे होंगे, वृक्षों के कारण देख नहीं पड़ते, अथवा उस ठौर कोई गुफा होगी जिसमें छिप रहे हैं।

राजपूत ने वृक्षादि चिन्हों को लक्ष्य करके वह पथ अवगत कर लिया। अतः फिर निम्न भाग की ओर चलना आरम्भ कर दिया! इस प्रकार के चातुर्य्य से उक्त स्थान पर पहुँच के देखा

कि गुफा है और इसके भीतर से मनुष्यों का बोल भी सुन पड़ता है। इस समय मन में सोचा कि यह चार जने हैं और हम अकेले। खोह के मध्य प्रवेश करना ठीक होगा कि नहीं यदि वह लोग गुहा का द्वार रोक के युद्ध करने लगें तो रक्षा का क्या उपाय होगा?

पर सच्चे राजपुत्र के हृदय में ऐसी आशङ्का कितने काल तक स्थिर रह सकती है? मृत्यु ही मात्र का भय ठहरा वह उन्हें किस काम से विरत कर सकता है? इससे साथ ही यह विचार किया कि दो को तो जाते ही जाते मार गिराऊंगा। फिर देखा जायगा पर यदि यह वही डकैत न हुए तो निरपराधियों की हत्या लेना भी ठीक नहीं। यह विचार कर सन्देह मिटाने के लिये धीरे धीरे गुहा के द्वार देश पर खड़े होकर वह भीतर वालों की बातें सुनने लगा। उस समय वे लोग लूट के धन का भाग लगाने की मीमांसा कर रहे थे। 'अतः खोह में घुस चलना ही ठीक है।' फिर क्या था चुपचाप बर्छा तो वन में छिपाया और खड्ग निकाल कर दाहिने हाथ में लिया; वाम हस्त में पिस्तौल पकड़ी और जिस समय राजकुमारी के पत्रों पर धन प्राप्ति के लोभ से सब लोग बातचीत में मग्न हो रहे थे उसी समय अश्वारोही महाशय दबे पाँव भीतर जा पहुँचे। देखा कि दलपति गुहाद्वार की ओर पीठ किये बात झल रहा है, इससे झट उसका सिर तो राजपूत ने जाते ही उड़ा दिया। हाथों का बल इसे कहते हैं कि एक ही झड़ाके में दो खण्ड कर दिये।

इतने में दूसरा डाकू जो निकट ही बैठा था उसने मुँह फेरा तो राजपुत्र ने उसके मस्तक पर भी एक ऐसी लात जमाई कि वह मूर्छा खा के गिर पड़ा। रहे दो उनमें से देखा कि एक जना मारने के लिये बड़ा सा शिलाखण्ड उठा रहा है उसे तुपक से धराशायी कर दिया। अब मानिकलाल बच रहे थे।

उन्होंने कोई उपाय न देख के गुहा से निकल हाँपते हुए बन का मार्ग लिया, पर राजपूत कब छोड़ता था, उसने साथ ही पीछा किया। इसी अवसर पर राजपुत्र ने जो बर्छा पहिले छिपा रखा था उस पर मानिकलाल का पाँव गड़ गया। उसे उसने झट उठा के पीछा करने वाले की ओर फिरा और कहा बस महाराज बस! मैं आपको पहिचानता हूँ इससे शांत हो जाइये नहीं तो इसी भाले से छेद कर रख दूंगा।

राजपुत्र ने हँस कर उत्तर दिया—"छेद तो क्या सकते हो यदि चला सकते तो भी हम बायें हाथ से छीन लेते, पर तुमसे यह भी कहाँ होना है। अस्तु हमारा ही बल देख लो" यह कह कर छूछो पिस्तौल, उसका दाहिना हाथ ताक के मार दी जिसके आघात से झट बर्छा छूट गिरा। उसे राजपुत्र ने उठा लिया और मानिकलाल की चुटिया जा पकड़ी तथा तलवार निकाल के शिरच्छेदन के लिये उद्यत हो गया। उस समय डाकू ने कातर स्वर से कहा—"महाराजाधिराज! मेरे प्राण की रक्षा कीजिए, मैं आप की शरण में हूँ।" राजपुत्र ने शिखा छोड़ दी और खड्ग संवरण करके कहा—"मरने से इतना क्यों डरता

है ?" मानिकलाल ने उत्तर दिया—"नहीं, मरने से नहीं डरता हूँ, पर मेरे एक सात वर्ष की कन्या है, उसकी माँ भी नहीं है, इससे मुझी को पालन करना पड़ता है। सवेरे खिला पिला आया था सन्ध्या को जाऊँगा तो फिर खिलाऊँगा। उसकी रक्षा मेरे ही हाथ है। मैं मर गया तो उसका जीना कठिन है। इससे पहले उसे मार डालिये फिर मुझ मरना अङ्गीकार है।"

यह कहते कहते उसके नेत्रों में आँसू भर आये। उन्हें पोंछ फिर बोला—"पृथ्वीनाथ! आपके चरण छूके सौगन्ध खाता हूँ कि अब डकैती कभी न करूँगा। जब तक जीऊँगा आप ही की सेवा में रहूँगा और ईश्वर ने चाहा तो कभी कुछ उपकार इस दास से भी हो ही रहेगा।"

राजपूत०—"तुम हमें जानते ही क्या हो ?"

दस्यु—"भला महाराजा राजसिंह को कौन न जानता होगा ?"

महाराना ने उत्तर दिया—"अच्छा तुम्हें जीवदान दिया गया पर तुमने ब्राह्मण का धन हरा है इससे दण्ड न देना भी राज-धर्म के विरूद्ध है।" मानिकलाल ने कहा—"पृथ्वीनाथ! यह पाप मैंने पहिलो बार किया है। इससे कठिन दण्ड न दीजिये।" यह कहते कहते अपने कटिप्रदेश से एक छुरी निकाल कर तर्जनी पर फेर दी। उससे हड्डी नहीं कट सकती थी अतः एक पत्थर पर उँगली रख कर उस पर छुरी जमा के दूसरे हाथ से एक पाषाणखण्ड उठा के मार लिया जिससे अगुली कट के गिर पडी।

तब दस्यु ने कहा—"लीजिये महाराज दण्ड हो चुका।" राजसिंह यह देख के विस्मित हो गये कि इसने अपने हाथ से अपना अङ्ग भङ्ग कर डाला और भौं पर बल भी न आने दिया।

उस पर उसने कहा—"ठीक है यही दण्ड बहुत है अब अपना नाम तो बतलाओ।"

दस्यु०—"महाराज इस पापिष्ठ का नाम मानिकलाल है और यह राजपूत वंश का कलंक है।"

महाराना—"अच्छा मानिकलाल! तुम आज से हमारे सेवक हुए और अश्वारोही सैनिकों में युक्त हो गये। अपनी कन्या को ले के उदयपुर चलो, वहाँ तुम्हें निवास के लिये भूमि मिलेगी।"

मानिकलाल ने राजा के चरणों की धूलि मस्तक पर लगाई और उन्हें ठहरा के गुहा में जाके वहां से कङ्कण, स्वर्णमुद्रा और दोनों पत्र लाके रख दिये और विनय की कि "हमने ब्राह्मण के पास से जो कुछ हरण किया था वह सब श्रीचरण को अर्पण करते हैं। यह पत्र आप ही को लिखे गये हैं पर मैंने पढ़ लिये हैं इससे अपराध की क्षमा माँगता हूँ।"

राना ने ले के उन्हें पढ़ा तो देखा कि शिरोनामा पर उन्हीं का नाम लिखा है। इससे कहा—"मानिकलाल! यह स्थान पत्र पढ़ने के योग्य नहीं है फिर पढ़ेंगे अभी हमारे साथ आओ क्योंकि यहाँ का मार्ग तुम भली भाँति जानते हो।"

करना।

—प्रतापनारायण मिश्र

वाल्मीकि

भारतवर्ष के कवियों की श्रेणी के शिखर पर वाल्मीकिजी का पवित्र नाम है। ये भारतीय काव्य के आदि कवि हैं। इनका संसार-प्रसिद्ध काव्य रामायण है, जो कविताप्रदेश का अमूल्य हीरक रत्न है। सहस्रों वर्ष और अपरिमित काल से यह मणि अपनी अनुपम और अटल प्रभा को उस स्थान पर जिस पर केवल दिव्य दृष्टि और बुद्धि का अधिकार है डालती रही है।

वाल्मीकिजी का आश्रम गङ्गा-तट पर था। सीता के युगल पुत्र इसी आश्रम में उत्पन्न हुए थे। वाल्मीकि जी इनके गुरु थे। इनका समय रामचन्द्र जी के जीवन का समय है और यह समय ऐतिहासिक काल से परे है। इनके काल के विषय में इतना ही कहा जा सकता है कि इनका काव्य रामायण पाँचवीं शताब्दी बी० सी०[1] के पहले बन चुका होगा। प्रायः भारतवर्ष के निवासियों को रामायण की कथा अच्छी तरह ज्ञात है, इस कारण उसका वर्णन इस छोटे लेख में करने से वृथा समय क्षेप होगा। यदि सच्ची

---

१ ईसा मसीह के जन्म से पूर्व।

कला-कुशलता की परीक्षा मनुष्यों के जीवन पर प्रभाव डालती है, तो यह काव्य इस प्रभाव से परिपूर्ण है। सृष्टि-रचना, धार्मिक विषय, दृष्टान्त, कथायें, देवताओं के चरित्र और मनुष्यों के इतिहास सब ही इस अद्भुत वाल्मीकिकृत इन्द्रजालरूपी काव्य-रचना में भरे हुए हैं। रचना-शक्ति की प्रबलता, कविता का लालित्य, वीररस-सम्बन्धी इतिहास के वर्णन की मनोहरता, प्रकृति की शोभा का वर्णन और पद्य-रचना की अद्भुतता इस पुस्तक में ऐसी हैं कि जिनके कारण संसार भर के कवियों की श्रेणी में वाल्मीकि जी का प्रथम स्थान है। इतिहास का जो यथार्थ अर्थ है उस अर्थ को देखने से यद्यपि रामायण इतिहास नहीं है, परन्तु यह हिन्दू जाति के प्राचीन समय की सभ्यता का निस्सन्देह दर्पण है। रामचन्द्र जी के समय से लगा कर सिकंदर बादशाह के आक्रमण करने के समय तक का दृश्य है। हिन्दूओं के सत्यवक्तृत्व की प्रशंसा सदैव से चली आती है। ऐसा प्रमाण रहते हुए यह समझ में नहीं आता कि प्राचीन कवियों ने रामचन्द्रजी का जीवनचरित्र मनःकल्पित कैसे बना लिया होगा और इस पुस्तक का धर्म पुस्तक के तुल्य कैसे प्रचार कर दिया होगा? वाल्मीकि जी बहुत प्राचीन काल में हुए हैं। इनके विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता कि इन्होंने रामचन्द्रजी का चरित्र मनःकल्पित रचा है। आधुनिक पश्चिम-देशीय विद्वानों की शंकायें इस विषय में निर्मूल है। उनकी हिन्दू जाति के कर्तव्यता के परिचय की अज्ञानता गहरी है।

वेदव्यासजी

दूसरे कवि वेदव्यासजी है। इनकी लेखन शक्ति और दिव्य दृष्टि वाल्मीकिजी से कदापि न्यून नहीं है। यह महाभारत और अठारह पुराणों के रचयिता हैं। इनके नाम का गौरव और महत्व हिन्दू जाति के धार्मिक साहित्य पर अपरिमित है। इन्होंने अनेक ग्रन्थ बनाये हैं और इनकी काव्य-शक्ति अतुलनीय है। प्राचीन वा आधुनिक समय में ऐसा कोई कवि नहीं हुआ कि जिसने इतने ग्रन्थों की रचना ऐसे महत्व से की हो। इनकी समानता नहीं हो सकती। इस लेख में इनके सब ग्रन्थों की समालोचना करना असम्भव है, अतः इनके महाभारत ग्रन्थ का इस स्थान पर थोड़ा सा परिचय दिया जाता है।

यह ग्रन्थ हिन्दू-जाति की सभ्यता, इतिहास, धर्म, न्याय-विज्ञान आदि का वृहत् भाण्डार है। सब पुराण और दूसरे हिन्दू-ग्रन्थों का निकास इसी सोते से है। प्राचीन समय की पुस्तकों में धार्मिक और नैयायिक ज्ञान के लिये यह अद्वितीय है। इस महाकाव्य के अठारह भाग हैं। इसका मुख्य विषय पाण्डव और कुरु वंशियों के चरित्रों का वर्णन है। तथापि ससार की उत्पति से हिन्दू जाति ने जो कुछ किया है, सभी कुछ इसमें लिखा है। ईलियड और अडिसी की समानता महाभारत से देना ऐसा ही है जैसा कि राजपूताने के अरावली पहाड़ियों की समानता अद्भुत शोभा-युक्त हिमालय पर्वत से देना।

काव्य-गौरवता, नाना प्रकार के विषयों का वर्णन, शुद्ध और सरल पद रचना इस ग्रन्थ में ऐसी है कि संसार भर के साहित्य में कोई ग्रन्थ इसके समान नहीं है। भविष्यत् काल में जब इस देश के विद्वान् स्वतंत्रता से प्राचीन ग्रन्थों की सत्य-परीक्षा में निपुण हो जायँगे उस समय केवल महाभारत ही तो एक ग्रन्थ होगा, जिसकी सहायता से हिन्दू जाति का इतिहास लिखा जायगा; इसके अमूल्य वृहत् भंडार में ऐसी विशाल शक्तियाँ भरी हुई हैं कि जिनका उसी समय प्रादुर्भाव होगा जब इस देश के विद्वान् प्राचीन ग्रन्थों की भले प्रकार परीक्षा कर लेंगे। रामायण और महाभारत जिनमे हिन्दू-जानि की सभ्यता के अमूल्य रत्न भरे पड़े हैं, ऐसे समय की प्रतिक्षा कर रहे हैं। हिन्दुस्थान में इस महान् कार्य को करने के लिये किसी देशीय निब्यूहर * के जन्म होने की आवश्यकता हैं।

—भारतके धुरन्धर कवि।

प्रयाग की प्रदर्शिनी

(१)

तीर्थराज की पावन यात्रा प्रदर्शनी-दर्शन के साथ,
एक पन्थ दो काज-सिद्ध का देख सुअवसर आया हाथ।
उठी हमारे मानस में भी सहसा एक उमङ्ग-तरङ्ग,
चले अतः सानन्द एक दिन कुछ आत्मीय जनों के संग॥

---

* यह एक प्रसिद्ध पुरुष इतिहास रचयिता हैं। ऐसे महानुभव की आवश्यकता है।

(२)

हुई रेलगाड़ी में जैसी रेल पेल या ठेलाठेल,
नहीं कहेंगे उन बातों को था वह भी मेले का मेल।
वहाँ पहुँचते ही हम अपना मार्ग-कष्ट सब भूल गये,
कहें कहाँ तक, देखे हमने दृश्य एक से एक नये॥

(३)

सुनकर स्वागतपूर्वक, पहले पण्डा-दल का मृदुलालाप,
पुण्योदका त्रिवेणी-तट पर पूर्ण किया निज कार्य्य-कलाप।
मन्द-वायु-विक्षिप्त तरंगें शत शत सूर्य्य विम्ब कर व्यक्त,
शीत समय भी दृष्टि-मार्ग में करती थीं मन को अनुरक्त॥

(४)

सब कामों से, छुट्टी पाकर, हम प्रदर्शिनी में आये,
ऊँचे ऊँचे पीत वर्ण के भव्य भवन थे मन भाये।
उनके भीतर विविध वस्तुयें संगृहीत सज्जित पाईं,
आकर्षित सी हो कर आखें जिन्हें देखने को धाईं॥

(५)

कहीं सजावट की चीजों से हो जाता था चित्त प्रसन्न,
कहीं कलें अपनी महिमा से करती थीं विस्मय उत्पन्न।
भाँति भाँति की वस्त्र-राशियाँ कहीं दिखाई देती थीं,
कुशल कलाकारों की कृतियाँ चित्त चुराये लेती थीं,॥

(६)

नई-पुरानी तरह तरह की तसवीरें छवि पाती थीं,
मनोविकार, प्राकृतिक शोभा सभी दृश्य दिखलाती थीं।
कहीं मूर्तियाँ रम्य रूप से आँखों में घुस जाती थीं,
कर्ताओं की कला-कुशलता बोले विना बताती थीं॥

(७)

देख छटा वह गृह-रचना की होगा किसको हर्ष नही ?
छोटे बड़े शिविर या तम्बू थे दिखलाये गये कहीं।
लकडी पत्थर और काँच के कई तरह के सुन्दर काम,
देखे विना नहीं हो सकता उन सब का अनुभव अभिराम॥

(८)

कहीं स्त्रियों के कौशल के काम अनेक निराले थे,
गिरी दशा में भी भारत का नाम बढ़ाने वाले थे।
कहीं कसीदा, पच्चीकारी, तारकशी, नक्काशी देख,
रुचिर बेल-बूटों से मन को होता था आनन्द विशेष॥

(९)

तरह तरह के यन्त्र मनोहर तरह तरह के थे औजार,
जल-यानों की अनुपम रचना थल-यानों का था व्यापार।
भाँति भाँति के बाजे सुन्दर कहीं दृष्टि में आते थे,
बीच बीच में बज कर कोई श्रवण-सुधा बरसाते थे॥

(१०)

आभूषण-विभाग था मानों रत्नों का भाण्डार यथार्थ,
बड़ी सजावट से रक्खे थे यहा बहुत बहुमूल्य पदार्थ।
रंग बिरंगे रत्नों की वह ज्योति मनोरम जगती थी,
विद्युद्दीपों के प्रकाश में चकाचौंध सी लगती थी॥

(११)

कहीं ऐतिहासिक पदार्थ थे रक्खे गये विचित्र विचित्र,
जिन्हें देख कर खिंच जाते थे आंखों में वहु घटना चित्र।
हस्त-लिखित प्राचीन पुस्तकें शास्त्र-भूषणादिक अवलोक,
काल चक्र की चाल लोक में विदित हो रही थी वे रोक॥

(१२)

किसी भवन में जीवजन्तु-मय देख प्रकृति की अद्भुत सृष्टि,
विधि की रचना के अनुभव से मोहित हो जाती थी दृष्टि।
देहधारियों की विभिन्नता रङ्ग, रूप, आकार, प्रकार,
उस कारीगर की महिमा है महा महत्तापूर्ण, अपार॥

(१३)

कृषि-विभाग था हम लोगों को अति उपयोगी, उपकारी,
जल-सिञ्चन की नई रीतियाँ कल के हल वहु-बलधारी।
कृषि-सम्बन्धी काम यहाँ पर थे दिखलाये गये तमाम,
जिनके द्वारा लाभ उठाकर कृषक-वृन्द पावें आराम॥

(१४)

जल-विभाग में जल यन्त्रों से पानी आता जाता था,
कहीं पुलों का रचना-कौशल मन का मोद बढ़ाता था।
जल का कहीं जमाव जमा था नहर निकाली गई कहीं,
नदियों की नैसर्गिक शोभा निपट निराली नई कही॥

(१५)

खेल तमाशे भी कितने ही होते देखे जहाँ तहाँ,
यदपि हमारे लिये सभी कुछ था कौतुहल-जनक यहाँ।
चलती फिरती तसवीरें थीं सरकस और थियेटर गान,
कहीं अखाड़े मे लड़ते थे नामी पहलवान बलवान॥

(१६)

वैज्ञानिक लोगों की कृतियाँ देख एक से एक बड़ी,
मनुज बुद्धि-बल की असीमता हमें यहाँ पर जान पड़ी।
अहा! विमानों के उड़ने का दृश्य और भी नूतन था,
अद्भुत भावों की लहरों में बहता नहीं कौन जन था॥

(१७)

संध्या होने पर प्रदर्शनी दिखलाती थी नई छटा,
उन्नत-नैष्ठिक-नभस्थली का जिसे देख कर गर्व घटा,
विद्युद्दीपों के प्रकाश से अन्धकार का करके नाश,
रत्नाभरण युक्त रमणी-सम करती थी मानों मृदु हास॥

(१८)

एक दूसरे की कृतियों को एकत्रित अवलोकन कर,
और अधिक उत्साह-सहित हों अपने कामों में तत्पर।
ज्ञान-वृद्धि के साथ साथ ही नूतनता पर डालें दृष्टि,
इसीलिये ही विज्ञजनों ने की प्रदर्शिनी की शुभ सृष्टि॥

(१६)

कला-कुशलता की उन्नति हो अनुभव का विस्तार बढ़े,
नये नये आविष्कारों की महिमा सबके चित्त चढ़े।
नानाविधि बाणिज्य-वृद्धि से हो समृद्धिशाली निज देश,
इस प्रकार कितने ही उत्तम हैं प्रदर्शिनी के उद्देश॥

—मैथिलीशरण गुप्त

नवीन सभ्यता के स्रोत में कुछ प्राचीन विद्याओं का लोप

आधुनिक सभ्यता बडी गौरवशालिनी दिखाई देती है। वह अनेक विस्मयजनक आविष्कारों का घर है। धूमयन्त्र (Engine) ने दूरी को दूर कर दिया है। ६०, ७० मील फी घन्टे की चाल से चलता हुआ वह देश-देशान्तरों में भ्रमण करता है। अगाध समुद्रों के जल-तल पर भ्रमण करते हुए बहुवेग-गामी

स्टीमरों ने भूमण्डल के पृथक् पृथक् भागों को एक में मिला सा दिया है। व्योमयान, जो वायु-मण्डल की तरङ्गों को उत्तीर्ण करते हुए आकाश में प्रवेश करते हैं, अपना अलग ही चमत्कार दिखा रहे हैं। ये जल स्थल और आकाशगामी यन्त्र यद्यपि बड़े विस्मय-जनक आशुगामी और देश काल विध्वंसक हैं, तथापि विद्युत्क्रिया सम्बंधी आविष्कारों के सामने कुछ भी नही हैं। इसका तो महत्व बहुत ही अद्भुत है। तार की ख़बर, बात की बात में, भूमण्डल के देशों के आर पार जा पहुँचती है। हिन्दुस्थान के बड़े बड़े कार्य्यालय विलायत से नित्य खबर पाकर अपना कार्य चलाते हैं। आधुनिक विज्ञान-शास्त्र ने बिजली को आकाश लोक से छीन कर मनुष्य की सेवा में नियुक्त कर दिया है। बिजली से ही हमारी मशीन चलती हैं, बिजली से ही हमारी तार की ख़बर जाती है, बिजली से ही हमारे कारखानों का काम होता है और बिजली से ही हमारे नगरों में प्रकाश होता है। बिजली के सामने सूर्य्य का प्रकाश भी लज्जित सा हो जाता है। विज्ञान शास्त्र ने पञ्च तत्त्वों को अपने मन्त्रों से वशीभूत करके प्रयोग-शाला में धर दिया है और उनके सब रहस्यों को मालूम कर लिया है।

पृथ्वी मण्डल की जो अन्तिम सीमायें निरन्तर हिमाच्छादित रहती थीं और जहाँ पर मनुष्य का पदार्पण भी कभी न हुआ था उनका भी पता प्राप्त कर लिया गया है। पृथ्वी की आँतें वेध कर अमूल्य रत्न अथवा धातुयें निकाली गई हैं।

अगाध समुद्रों के गुप्त से गुप्त भेद जान लिये गये हैं। इन सब बातों के होते हुए कौन मनुष्य ऐसा है जो यह कह सके कि आधुनिक सभ्यता में कुछ कमी है? ज्ञात होता है कि जितनी विद्यायें हो सकती हैं सभी इस समय अपने विकसित रूप में वर्त्तमान हैं। प्राय सभी प्राकृतिक शक्तियों का रहस्य मालूम सा हो गया है। प्राचीन सभ्यता का तिरस्कार करती हुई, नवीन सभ्यता अपने महत्त्व और प्रभाव की दुन्दुभी बजा रही है। परन्तु बात ऐसी नहीं है। ध्यान से देखा जाय तो इस नवीन सभ्यता में अभी उन अनेक विद्याओं का अभाव है जो प्राचीन मनुष्यों ने शताब्दियों के अनुभव से प्राप्त की थीं।

अब कुछ ऐसी विद्याओं और कलाओंका विवरण हम देते हैं जो प्राचीन काल में प्रचलित थी, पर इस काल में लुप्त हो गईं अथवा लुप्त होती जाती हैं।

पशु-पक्षियों की बोली समझना

सभी प्राचीन सभ्य देशों मे इस विद्या का उल्लेख पाया जाता है। हिन्दुओं के पुराण इतिहास आदि से ज्ञान होता है कि भारत-वासियों ने इस विद्या में अच्छी उन्नति की थी। रामायण में इसके कई उदाहरण हैं। रावण जब सीता को हर ले गया तब यह समाचार रामचन्द्र को जटायु नाम के गृद्ध

पक्षी से मिला। जटायु और रामचन्द्र में बहुत कुछ वार्त्तालाप भी हुआ। इसी तरह रामचन्द्र और हनूमान का संवाद भी प्रसिद्ध है। भागवत-पुराण में श्रीकृष्ण और जाम्बवान् का कथनोपकथन है। महाभारत में राजा युधिष्ठिर का हिमालय पर श्वान के साथ बात-चीत करना लिखा है। द्रविड़ेश्वर और मत्स्य का संवाद भी महाभारत में है। कादम्बरी नाम की पुस्तक में राजा शुद्रक और वैशम्पायन नामक एक तोते का सम्भाषण है। गरूड़ और काकभुशुण्ड का नाम तो सभी हिन्दू जानते हैं। गरूड़ विष्णु-भगवान् के वाहन थे। काकभुशुण्ड ऋषि पदवी को पहुँच गये थे।

और देशों के इतिहास में भी इस प्रकार की कथायें हैं। महमूद ग़ज़नवी के सम्बन्ध में एक कहानी है। एक बार शिकार करते करते थक कर वह एक वृक्ष के नीचे ठहरा। उस वृक्ष पर उलूक और एक उलूकिनी वैठी थी। उलूकिनी ने उलूक से अपने लड़के का विवाह उसकी लड़की से करने को कहा। उलूक ने जवाब दिया कि अगर तुम मेरे लड़के को एक उजाड़ गाँव दो तो मैं विवाह कर दूं। इस पर उलूकिनी ने कहा, यदि बादशाह महमूद ग़ज़नवी सलामत रहा तो एक गाँव क्या, दस उजाड़ गाँव दे दूँगी। यह बात-चीत बादशाह सुन रहा था। इस पर उसे बड़ी लज्जा हुई। उस दिन से वह अपने राज्य का अच्छा प्रबन्ध करने लगा।

यह कहानी इस बात को पुष्ट करती है कि पशु-पक्षियों

की बोली समझने की विद्या महमूद ग़ज़नवी के समय तक प्रचलित थी।

यदि मनुष्य पशु-पक्षियों की बोली समझ ले तो उसका बहुत काम निकले। प्राचीन कालमें विद्वानों ने इस रहस्य का भेद जान लिया था। नवीन सभ्यता तो अपनी विद्या के अभिमान से इन बातों को झूठ ही समझती है। जिस वस्तु को वह सुगमता से नहीं प्राप्त कर सकती उसे वह मिथ्या ढकोसला बताती हैं। जीव जन्तु विद्या (Zoology) पर इस समय विद्वानों का बहुत ध्यान है। उसकी उन्नति भी बहुत हुई हैं; परन्तु यह विद्या, पशु-पक्षियों की बोली समझने की विद्या के संयोग के बिना अधूरी है।

प्राचीन समय में इस विद्या का प्रचार होना अच्छी तरह साबित है। इस विषय के ग्रन्थ भी थे, जो अब नहीं मिलते। कोकशास्त्र का एक अंश इस विद्या से ही सम्बन्ध रखता था। इसके साधन का उपाय योग-शास्त्र में भी लिखा है, पातञ्जलयोग-सूत्रों के तीसरे अध्याय में इस विद्या का नाम विभूतियों में है।

—कन्नोमल

रानी भवानी

(राजा शिवप्रसाद, सी० एस० आई० के "वामामनरजन" से)

रानी भवानी बङ्गाले के ज़िले राजसाही में छातिन गाँव के चौधरी आत्माराम की लड़की थी और नाटौर के ज़मीदार राजा रामजीवन राय के बेटे रमाकान्त से ब्याही गई। जैसे वह सुन्दर थी, वैसी ही सुलक्षणा भी थी। और धर्म्म और परोपकार में निष्ठा उसकी लड़कपन से रहती थी। दयाराम नाम राजा जोवन का पुराना ख़ैरख़्वाह नौकर था। राजा रमाकान्त को जमीदारी के काम में ग़ाफ़िल देख कर एक दिन समझाने और नसीहत देने लगा। राजा रमाकान्त ने इस बात पर ख़फ़ा होकर उसे अपने यहां से निकाल दिया। वह बड़ा चतुर और होशयार था। बङ्गाले के सूबेदार नवाब अलीवर्दी ख़ाँ के दरबार में हाज़िर रहने लगा। एक दिन अर्ज़ की कि जहाँपनाह राजा रमाकान्त ने बत्तीस लाख रुपया घर में जमा किया और दो लाख का सरपेच मोल लिया है; पर आपका रुपया अदा नहीं करता, बाक़ी डालता चला आता है और सरकारी मालगुज़ारी को बातों में उड़ाना चाहता है। नवाब ने पूँछा कि तू बत्तीस लाख रुपये का उसके घर में निशान दे सकेगा? उसने कहा बेशक। नवाब ने फिर पूँछा कि राजा रामजीवन के कुटुम्ब में और कोई भी राजा के लायक़ हैं? उसने कहा उनका भतीजा देवीप्रसाद बड़ा ईमानदार ज़मींदारी के काम में

होशयार है। नवाब ने उसी दम हुक्म दिया कि फ़ौज जावे और रमाकान्त का घरबार लूट लेवे और देवीप्रसाद उसकी जगह राजा होवे। मुसलमानों की अमलदारी में प्रायः ऐसा ही अंधेर मचा करता था। रमाकान्त महलों में था उसने जब सुना कि नवाब की फ़ौज घर में घुस आई और लूट कर रही है तो इज़्ज़त के ख़ौफ़ से रानी भवानी को साथ ले, पनाले की राह बाहर निकल भागा धन-द्रव्य का जरा भी मोह न किया। रानी भवानी एक तो रानी, दूसरे गर्भवती, पाँवों काहे को कभी चली थी। ज्यों त्यों बैठती उठती रमाकान्त के साथ गङ्गा के किनारे तक पहुँची। वहाँ से एक छोटी सी नाव पर बैठ कर दोनों मुर्शिदाबाद आये और जगत सेठ की शरण लेकर एक छोटी सी हवेली में रहने लगे। नित्य की तकलीफ सहते सहते घबड़ा गये थे। एक दिन रमाकान्त खिड़की में से दयाराम को पालकी पर जाते हुए देख कर बोला की दया भाई अब इस विपत्ति में कब तक रखोगे। दयाराम, रमाकान्त को देखते ही पालकी से उतर कर उसके पास चला आया और अपने मालिक की ऐसी दुर्दशा देख के आँखों में आँसू भर लाया, बोला की पचास हजार रुपया होय तो तुमको तीन ही दिन में फिर राज दिलवा सकता हूँ। राजा ने कहा मेरे पास इस समय रुपया कहाँ, रानी ने समझाया कि आप न घबडाइये और अपना सारा जेवर उतार दिया। दयाराम ने उसे बेच कर जहाँ देवीप्रसाद रहता था, वहाँ से नवाब की ड्योढ़ी तक जितने बनिये और

दूकानदार थे और जो जो नौकर चाकर नवाब के आसपास और दरवाज़े पर हाज़िर रहा करते थे, सब को पाँच से ले सौ तक रुपये बाँटे और कहा कि आप लोग जिस समय देवीप्रसाद दर्बार को जाय, उसे सुना कर इतना कह देना कि "देखो यह वही अभागा ज़ाता है।" देवीप्रसाद यह सुन कर बड़ा दुखी हुआ और अपना सारा हाल नवाब से कहा। नवाब बोला कि जो तुझे सारी खिलक़त अभागा कहती है तो तू ज़रूर अभागा है, मैं ऐसे अभागे को कभी राजा न बनाऊँगा और फिर दया-राम से पूँछा कि रामजीवन राय के कुल में कौन दूसरा आदमी राजा के लायक़ है? उसने कहा जहाँपनाह उनका बेटा ही रमाकान्त बड़ा ईमानदार और ज़मींदारी के काम में होशयार मौजूद है। निदान नवाब ने उसी दम रमाकान्त को राजगी की ख़िलत बख़्शी और देवीप्रसाद को दरबार से निकलवा दिया। तब से राजा रमाकान्त दयाराम को बहुत मानता रहा और सोलह बरस राज्य करके परलोक को सिधारा। रानी भवानी के लड़का कोई न था—दो हुए थे, सो दोनों बालकपन ही में मर गये थे। सारा काम ज़मींदारी का आप देखती थीं और दान और धर्म्म में बड़े बड़े राजाओं को मात करती थी। एक लाख अस्सी हज़ार रुपया साल तो नक़द पण्डित और फ़क़ीरों को मुक़र्रर था और प्रायः पाँच लाख बीघे के लोगों को धरती माफ़ कर दी थी। घाट धर्म्मशाला आदि के सिवा, तीन सौ हवेली बनारस में मोल ली थीं कि जो लोग वहाँ काशीवास

करने को आवें, विना किराये उनमें रहा करें। वहुतेरे आदमी उसके देश के जो काशी में रहने को आते उन्हें मकान के सिवा जन्म भर परिवार समेत खाने पहनने को भी देती। पञ्चकोशी की सारी सडक में थोडी थोडी दूर पर धर्म्म के ढीहे बनवा कर और कुए खुदवा कर पेड़ लगवा दिये थे। कई जगह धर्म्मशाला बनवा के तालाव भी तैयार कर दिये थे। सदाव्रत जारी था। काशी में आठ मन भींगा चना और पचीस मन चावल नित भूखों को बाँटा जाता था और एक सौ आठ स्त्री-पुरुष इच्छा-भोजन करते थे। जब रानी भवानी काशी में आई तो कहते हैं कि सत्रह सौ नाव उसके साथ थी। उसका रहना अक्सर जिले मुर्शिदाबाद में गङ्गा के तीर वडनगर में होता था और यह बात सोच कर कि सब जगह में सब समय भूखे नङ्गे उस तक नहीं पहुँच सकते थे और न वह उनको दान दे सकती थीं—हुक्म था कि जब कोई भूखा नङ्गा आवे तो दो रुपये तक पोद्दार, पाँच रुपये तक खजानची, दश रुपये तक मुत्सद्दी और सौ रुपये तक दीवान बिना पूँछे दे देवें। जब सौ रुपये से अधिक देना हो तो रानी से पूँछे, जमींदारी भर में ब्राह्मण की कन्या के विवाह का खर्च रानी की सरकार से दिया जाता था। नवरात्र में दो हज़ार वस्त्र सधवा और कुमारियों को बँटता और उसके साथ एक एक सोने की नथ भी दी जाती और पचास हजार रुपया पण्डितों को मिलता। रोगियों को देखने को आठ वैद्य नौकर थे—वे ज़मींदारी भर

मे गाँव गाँव दवा लेकर घूमा करते ; बीमारोँ की सेवा को उनके साथ नौकर भी रहा करते। रानी भवानी की दान धर्म में जैसी निष्ठा थी इसी बात से मालूम हो जायगी। जब एक साल इलाकोँ की आमदनी आने में देर हुई तो आपने हुक्म दिया कि खत्तोँ में जो कुछ गल्ला हैं बेच डालो और जिस जिस को जो जो मैंने देने को कहा है तुरन्त दे दो। कहते हैं कि वह गल्ला तीन लाख रुपये को बिका और ख़ज़ाने में आने से पहिले लोगोँ को बँट गया, तो भी पूरा न पडा, तब अपने गहने बेच कर दिया। पर जिसे जो देने को कहा था, वह वचन न तोड़ा। वह नित चार घड़ी रात रहे उठती थी और ईश्वर का ध्यान और जप करती थी। भोर होने पर स्नान करके दो पहर तक ईश्वर का अर्चन वन्दन करती और धर्मशास्त्र का श्रवण करती। फिर कुछ जलपान करके अपने हाथ से रसोई बनाती और उसमें से दस ब्राह्मणोँ को खिला के तब आप भोजन करती। फिर दीवानख़ाने में कुशासन पर बैठ कर पान सुपारी खाती और जो कुछ कारदारोँ को आज्ञा देनी होती सो ऊन्हें लिखवा देती। तीसरे पहर को धर्मशास्त्र सुनती। दो घड़ी दिन रहे कारदार लोग़ काग़ज़ दस्तख़त कराने को लाते। रात को फिर चार घड़ी जप करती, तब कुछ भोजन करके डेढ़ पहर रात तक, राजकाज की सुध लेती और दर्बार करती। बत्तीस वर्ष की अवस्था में विधवा हुई थी, उन्नासी वर्ष की अवस्था में परलोक को सिधारी पर नियम उसका कभो नहीं टूटा।

ऋतु-वर्णन

लेखक—प० माधवप्रसाद शुक्ल

ग्रीष्म।

वह तेज दुःसह अब दिवाकर का कहाँ जाता रहा।
जो प्राणियोँ पर, घास जल पर क्रोध दिखलाता रहा॥
उस आग सी तीखी हवा का भी पता कुछ है नहीं।
उडती धधकती धूल जो थी सो भी दिखलाती नहीं॥
पाकर बडा पद मत सताओ हों कोई खोटे खरे।
जितना जलाते हैं उन्हें होते हैं वे उतने हरे॥

वर्षा।

जलते हुए संसार की ज्वाला बुझाने के लिये।
आई थी मेघोँ की घटा जो संग अपना दल लिये॥
शीतल मनोहर वायु गर्जन श्याम मेघोँ का महा।
वह दृश्य सुंदर नेत्र से जाने कहाँ जाता रहा॥
उस सघन बादल वीच बिजुली की तड़प शोभामयी।
कौतुक दिखा कर वात वह क्यों स्वप्न की सी हो गयी॥
केवल दिखाते हैं वही नद ताल लहराते हुए।
जो स्वच्छ बूँदोँ से भरे हैं उनके बरसाये हुए॥
लोकोपकारी जन लगा आजन्म अपनी शक्ति को।
हैं छोड़ जाते जिस तरह निज कीर्ति को सम्पत्ति को॥

शरद्।

वह धूल पंकविहीन भूतल स्वच्छता आकाश की।
आभा मनोहर चन्द्र के शत कोटि अधिक प्रकाश की॥
तारागणों की चमचमाहट आदि बात हैं कहाँ।
सब अल्प ही दिन में चले जाते जहाँ के हैं तहाँ॥
सर विमलता औ कुमुदिनी, और वह चमेली की लता।
उन काँस फूलों का बनों में कुछ नहीं मिलता पता॥
सम्पत्ति पाकर गर्व करना व्यर्थ है संसार में।
यह शून्य औ मिथ्या है जिसको देखते विस्तार में॥
देखो तो पाकर अब सुअवसर ठंड भी पड़ने लगी।
प्रारम्भ इसका देख चिन्ता निर्धनों की थी जगी॥

हेमन्त।

फिर ठंड ने कैसा भयङ्कर रूप था धारण किया।
सब को बना कर आलसी सा, था अपाहज कर दिया॥
जिस ठंढ के आधिक्य से जल और वायु प्रहार से।
आता नहीं था बोल तक भी साफ मुख के द्वार से॥
थे कटकटाते दाँत थरथर काँपते थे अंग सब।
जिस भानु का करते अनादर था वही आधार तब॥
ओले गिरा कर नष्ट कर खेतों व पौधों को महा।
इस भाँति जिसने क्रूरता का अंत था दिखला दिया॥
हम देखते हैं आज वह भी आपही निर्मूल है।
संसार का क्रम जान कर अत्यन्त करना भूल है॥

वसन्त ।

वे वृक्ष जिन मे नाम को भी दीखते पत्ते न थे।
देखो उन्हें वे आज कैसे हैं हरे फूले फले॥
सहते हुए दुख धैर्य से जिनका कि होता अत है।
करते हैं वे जग को सुखी जैसा कि आज वसन्त है॥
सब पर्वतों वागों बनों में रॅग विरंगे फूल है।
कर्तव्यवानों के लिये कैसे ये दिन अनुकूल हैं॥
छवि देख यह निज यन्त्र ले जाता है देखो चित्रकार।
अनुपम प्रकृति की सकल शोभा आन में लेगा उतार।
यह छिन सुकवि जन भी मधुप सम सुरस रस एकत्र कर।
अर्पण करेंगे रसिक जन को सदुपहार वनाय कर।

परीक्षा

(स्वा० माधवप्रसाद मिश्र-लिखित)

वह बड़भागी धन्य है, जिसका कभी इस तीन अक्षर के शब्द से काम न पड़े और जो अपना भरम लिये हुए भलमंसी के साथ जीवन के दिन पूरे कर दे। परीक्षा वह चीज है जिसके नाम से बड़े बड़े देवता और ऋषि मुनि भी काँप उठे हैं, हमारे जैसे साधारण मनुष्यों की सामर्थ्य ही कितनी है जो उसके सामने पैर जमा सके।

परीक्षा कितनी बुरी बला है, इस बात को वे महाशय अच्छी तरह जान सकते हैं, जिनको किसी विद्यालय में परीक्षा देने का अवसर मिला है। ज़रा उस समय का स्मरण तो कीजिए जब परीक्षा के दिन निकट आ जाते थे, दिन रात कितने श्रम से पढ़ते थे, तथापि चित्त को सन्तोष नहीं होता था। जी में यही खटका बना रहता कि कहीं फेल न हो जायँ, खाते पीते सोते जागते सर्वदा एक उसी विषय का ध्यान रहता और चित्त पर वही चिन्ता चढ़ी रहती। जो विद्यार्थी देवी देवताओं की दिल्लगी किया करते वे भी उस समय मन ही मन उन्हीं की मनौती मनाते थे। कोई पण्डित के पास दौड़ा जाता और कोई ज्योतिषी जी के चरण छूता था, जैसे उन पर कोई बड़ी भारी विपत्ति आ रही हो। सब यही कहते थे कि देखें—परमात्मा क्या करता है! सचमुच परीक्षा ऐसी ही भयानक है।

स्वर्णकार ने स्वर्ण जब, दियो अग्नि में डाल।
काँप उठ्यो पानी भयो, देख परीक्षा काल॥

एक उर्दू के कवि का यह कहना कितना अच्छा है कि—

इस शर्त पर लेते हो तो हाज़िर है दिल ले लो;
रंजिश न हो फरेब न हो इम्तिहाँ न हो।

तात्पर्य यह है कि परीक्षा सबके जी में खटकती हैं, प्यारी किसी को नहीं लगती।

ईसाइयों की प्रार्थना में एक वाक्य है, जिसका भाव है कि

"हे ईश्वर! तू हमें परीक्षा में न डाल, वरञ्च बुराई से बचा।" भक्त-कुल-चूड़ामणि प्रह्लादजी ने भगवान् नृसिंहदेव से यही प्रार्थना की थी कि—"दयासिन्धो! संसार के जीवों पर दया करना उनकी परीक्षा न करना।" क्योंकि वे भली भाँति जानते थे कि जब मनुष्य का, मनुष्यकृत परीक्षा ही में उत्तीर्ण होना कठिन है, तब ईश्वरीय परीक्षा में उत्तीर्ण होना कितना दुर्घट व्यापार है। जगत में कितने ऐसे पुरुष हैं, जो परीक्षा के समय उनके समान सहर्ष जलती हुई अग्नि में प्रवेश करें, पर्वत की सब से ऊँची चोटी से कूद पड़ें, सिर पर चमकती हुई तलवार से कम्पित न हों, दयामूर्त्ति अश्रुमुखी जननी में जिनका मोह न हो और काल-सर्पवत् प्राणहन्ता पिता से जिन्हें भय न हो?

परीक्षा यदि इतनी भयानक वस्तु है कि सब लोग उससे डरते हैं, तो कृपालु परमात्मा की सृष्टि में इसकी आवश्यकता ही क्या थी? पर देखते हैं कि इसकी बड़ी भारी आवश्यकता थी और है। ईश्वरीय परीक्षा की बातें जाने दीजिए, वे जब तक पाप-सम्भव मनुष्यों की विशेष कर आज कल के हिन्दुओं की परीक्षा न करें, तभी तक मङ्गल है। अब हमारा वह समय नहीं है जब हम में प्रह्लाद जैसे भक्त और हरिश्चन्द्र जैसे महाराज विराजमान थे। हम नारकी जीव अब उनकी परीक्षा में कितनी देर ठहर सकते हैं? हाँ यदि सब लोग परस्पर में सच्चे होते, तो परीक्षा का कुछ काम न पड़ता। पर जब सबका वैसा व्यवहार नहीं है और इस त्रिगुणमयी सृष्टि में तीन काल

में वैसा होना असम्भव है, तब कैसे कहा जाय कि परीक्षा की आवश्यकता नहीं है।

संसार छल छिद्र से भरा है। जिधर देखोगे उधर धोखे की टट्टी और आडम्बर का ठाट दिखाई देगा। ऐसी अवस्थामे यदि परीक्षा से काम न लिया जाय तो क्या किया जाय? बहुधा देखा गया है कि कपटमूर्त्ति चतुरचूड़ामणि लोग ही बहुत मधुरभाषण और शिष्टाचार प्रदर्शन करते हैं। अल्पज्ञ पुरुष ही—"बडा धोता बड़ा पोथा पण्डित। पगड़ा बड़ा" का उदाहरण बनते हैं। निर्गन्ध कुसुम ही अधिक रङ्गीला होता है। नया मुसलमान ही "अल्ला अल्ला" पुकारता है। भूला पाण्डे हो दूनी सन्ध्या किया करता है और अधर्मात्मा ही धर्मध्वजी बनता है। इसलिये संसार में परीक्षा के बिना काम चलना कठिन है। यदि किसी की परीक्षा न की जायगी तो फिर यही कहना पड़ेगा कि काक भी काला और कोइल भी काली, फिर काक और कोइल मे भेद ही क्या * ठहरा?

× × × × ×

औरोँ को चाहे जैसी लगे, पर हमारे शास्त्रकारोँ को परीक्षा बडी प्यारी लगती थी। परीक्षा बिना अध्ययनाध्यापन नहीं होता था और न गुरु शिष्य का सम्बन्ध ही स्थिर होता था। श्रुति † कहती है कि विरक्त पुरुष परीक्षा से संसार को विनाशी

* "काक: कृष्ण: पिक कृष्ण: को भेद पिककाकयो:?"

† "परीक्ष्य लोकान् कर्म्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायात।"

जान कर संन्यासी होता है। "न्याय-दर्शन" में तो परीक्षा का मानो डङ्का ही बज रहा है। महर्षि गौतम प्रत्येक पदार्थ का लक्षण कर फिर उसकी परीक्षा करते हैं।

हमारे महर्षि लोग जब ईश्वर और अपौरुषेय वेद तक की परीक्षा किये बिना नहीं रहे, तब हम अपने को परीक्षा से बचावें, इसका क्या अर्थ? स्मरण रखना चाहिए कि एक दिन न एक दिन हमको विश्वपति के परीक्षा-मन्दिर में अवश्य जाना पड़ेगा, पर वहाँ से उत्तीर्ण होना न होना यह सब हमारे कर्माधीन है। हाँ यह कहा जा सकता है कि मनुष्य की बुद्धि अल्प है। जब प्रत्येक विषय की परीक्षा में उसका सफलकाम होना सम्भव नहीं तो फिर परीक्षा की उलझन में पड़ना ही क्यों? इसका सीधा उत्तर यही है कि पूर्णकाम वा परीक्षक ही सब विषयों की परीक्षा में कृतार्थ हो सकता है। पर उस पद तक पहुँचने का यही श्रेष्ठ सरल मार्ग है कि जिससे जितना निश्चय हो सके उतना ही परीक्षा से काम ले। जो जितना परीक्षक होगा उतना ही वह अन्धकूप से बचेगा। जो पुरुष अपने इष्ट मित्र बन्धुओं की यथासाध्य परीक्षा किये रहता है, वह कभी धोखा नहीं खाता और जो केवल अन्ध विश्वास का आग्रही है, अवश्य उसे एक दिन अपने कार्य पर पश्चात्ताप करना पड़ता है! इसलिये पुराने लोगों ने कहा है कि—

"गुरु कीजै जान कर। पानी पीजै छान कर।"

जिनका यह सिद्धान्त है कि इस असार संसार में ईश्वर ने

हमें परीक्षा के लिये भेजा है और वह हमारे प्रत्येक कार्य्य की परीक्षा करता है उन्हें फिर ससार में कोई डर ही नहीं है, वे चाहें सहस्र वार परीक्षा में पड़ें, किन्तु प्रह्लाद के समान सदा ही उत्तीर्ण होंगे। उनका कोई वाल भी वाँका न कर सकेगा। क्योंकि जिस पुरुष का यह विश्वास है कि परमात्मा सर्वव्यापक है और वह "विश्वतश्चक्षु" अर्थात् सर्वत्र हमारे सब कामों को देख रहा है, ऐसा कोई स्थान ही नही है जहाँ उसकी दृष्टि को वचा कर पाप कर्म किया जाय उससे क्या फिर कोई दुष्कर्म हो सकता है? जब कोई दुष्कार्य नहीं, तो फिर परीक्षा में भय किस बात का है?

और यदि परमात्मा की सत्ता पर तुम्हारा विश्वास नहीं है, लोगों की दृष्टि में तुम पूरे धर्मात्मा वन रहे हो, तो स्मरण रहै, तुम्हारे पाप चाहे जितने गुप्त हों और तुम चाहे जितने प्रतापी और बलशाली हो, तथापि एक दिन न एक दिन परीक्षा की प्रचण्ड आँच से तुम्हारी कलई खुल कर ही रहेगी।

परीक्षा कड़वी है सही, पर परिणाम में अमृत-तुल्य मधुर अवश्य है। परीक्षा ही के प्रताप से संसार में श्रमशाली और चरित्रवान् लोगों का आदर हो रहा है। यह परीक्षा ही की महिमा है कि जो विद्यार्थी केवल अपने रङ्ग रूप और वाचालता के कारण छात्र-समाज के नेता बने हुए थे, वे अपना सा मुँह लेकर पीछे पढ़े रह गये और जो बेचारे होनहार परिश्रमी बालक अर्थाभाव से किसी गिनती ही में न थे, वे सब के मुखिया वन

बैठे। जो हो! इसमें सन्देह नहीं कि परीक्षा में पडना बडा ही कठिन कार्य है, पर यदि कोई माई का लाल इससे उत्तीर्ण हो जाता है, तो, फिर उसके आनन्द की सीमा भी नहीं है।

परीक्षा में भय उसे है, जो खोट से भरा हो। जिसे निश्चय हो कि उसके पास शुद्धता का लेश नहीं है। अतः भगवद्भक्त और तत्त्वज्ञ को डर क्या है? परीक्षार्थ अग्नि में तपाये जाने पर वही सुवर्ण जलता और घटता है, जिसमें खोट भरा है और नहीं तो साँच को आँच ही क्या है? बरञ्च यों कहना चाहिए कि स्वर्ण सदा ही सुवर्ण है, वह कभी नहीं जलता। जलता वही है जो जलने के योग्य है, जो सुवर्ण के असली रूप को बिगाड़ रहा है। शुद्ध सुवर्ण को कोई चाहे जितना तपा देखे, वह न रत्ती भर घटेगा न रत्ति भर जलेगा और न कुछ उसकी असलियत ही में फ़र्क़ आवेगा, बरञ्च तपाने से दूना दमकने लगेगा। पर हाँ, सुवर्ण के नाम से विकने वाली पीतल को सदा भय है।

हमारे पूर्वज सुवर्ण के समान थे। परीक्षा उनकी प्यारी वस्तु थी। परीक्षा के लिये वे सर्वदा सन्नद्ध रहते थे। परीक्षा से उनका प्रताप कुछ ह्रास नहीं, वरञ्च वृद्धि को प्राप्त हुआ। हरिश्चन्द्रादि की यदि परीक्षा न हुई होती तो उनके चरित्र में औरों से विशेषता ही क्या थी? इस परीक्षा के कारण ही तो उनका इतना आदर हो रहा है। सिस्योदिया-वंश क्षत्रियों में किसलिये पवित्र समझा जाता है? इसलिये कि वह कठिन परीक्षा में उत्तीर्ण हो चुका है। परीक्षा के समय यदि चित्तौड़

निज गौरव को नष्ट कर देता, तो आज उसकी मृत्यु का—नहीं नहीं उसके अमरत्व का चिह्न ७४॥ हिन्दुओं की चिट्ठियों पर दिखलाई न देता।

× × × ×

रोम राज्य

"राई से पर्वत होने" की जो कहावत प्रचलित है, वह रोम राज्य पर पूर्णतया सङ्घटित होती है। जगत विख्यात "रोम" शब्द एक राज्य का नाम है। परन्तु रोम शब्द के अर्थ से और रोम राज्य का भूत एवम् वर्त्तमान शासनाधीन प्रदेश की सीमा से कोई सम्बन्ध नही है। रोम एक नगर का नाम है जो कि यूरप महाद्वीप के, इटली प्रायद्वीप की सीमा-सूचक रेखा के मध्य में भूमध्यसागर से पन्द्रह मील की दूरी पर स्थित है। रोम नगर छोटी छोटी पहाड़ियों के बीच में बसा हुआ है। ये पहाड़ियाँ "रोम की" सात पहाड़ियों के नाम से प्रसिद्ध हैं और ये डेढ़ सौ फ़ीट से अधिक ऊंची नहीं हैं। इन्ही पहाड़ियों के बीचों बीच टीबर नामक एक छोटा सा पानी का झरना बहता है प्राचीन रोम नगर की नीव इसी झरने के बाएँ किनारे पर डाली गई थी, परन्तु रोम की जनसंख्या उत्तरोत्तर बढ़ती गई। फल यह हुआ कि उक्त झरने का दहिना तट भी रोम नगर के प्राचीर के भीतर सम्मिलित कर लिया गया। रोम की सात

पहाडियाँ यद्यपि बहुत ऊँची नहीं है, तथापि वे बड़े मारके की हैं। वे लम्बे चौडे मैदान के मध्य में, एक दूसरे से सट कर चक्राकार खडी हुई अभेद्य दुर्ग जैसी दृढ प्राचीर प्रतीत होती हैं। इन पहाड़ियों के जिस ओर मैदान है उस ओर इनकी बनावट बडी टेढी मेढी और चढ़ाव उतार की है। परन्तु बीच की भूमि ढालू है। इनके बीचों बीच थोडी दूर तक चौरस मैदान भी है। रोम नगर की नीव का पहला पत्थर प्लेण्डाइन पहाड़ी पर रखा गया था, यह पहाड़ी टिवर नदी से चार सौ गज़ के अन्तर पर स्थित हैं। जिस समय रोम नगर की नीव नहीं पडी थी, उस समय वे पहाडियाँ सघन बन से जटित जघन्य बनैले जन्तुओं की जीवनाधार जन्मभूमि थी।

रोम नगर की नीव क्यों पडी और किसने डाली—इन बातों का ठीक ठीक पता चलना तो असम्भव है, क्योंकि इस विषय में जो रोम की प्रचलित दन्तकथाएँ हैं, वे परस्पर विरुद्ध हैं। एक कथा में यदि सादी राम का स्थापक माना गया है, तो दूसरी में सिसुली रोम का स्थापक कहा गया है, परन्तु अँगरेज़ पुरातत्त्ववेत्ताओं ने भलीभाँति छान-बीन कर लिया है कि सन् ईस्वी से ७५३ वर्ष पूर्व ट्रोय नगर के अधःपात होने पर, वहाँ का राजकुमार एनिस, अपने कुल साथियों समेत इटली में आ बसा। कुछ दिनों तक तो वे लोग बनजारों के से डेरे लगाते उखाड़ते, इधर उधर घूमते फिरते रहे। पर घूमते फिरते जब वे उपरोक्त स्थान पर आये, तब उन्होंने इस पहाड़ी भूमि को

अपनी रक्षा के लिए एक सुरक्षित और दृढ़ स्थान जान कर वहाँ ही अपना डेरा डाल दिया। इसके पश्चात् कुछ यूनानी लोग भी जो कि इटली देश के दक्षिणी किनारे पर निवास करते थे, उन लोगों के आकर सहवासी हो गये। इसके सिवाय आस पास के और लोग भी इन लोगों के साथ आ बसे।

रोम के आदि निवासी नोबिल अर्थात् सभ्य एवम् नवीन अधिवासियों के नाम से पुकारे जाते थे। परन्तु उन दोनों के अधिकार समान थे उनके शासन-सम्बन्धी नियमों के निर्माण करने के लिये जो प्रतिनिधि शासक चुने जाते थे, उनमें दोनों दलों की सम्मति समान होती थी।

रोम नगर का दूसरा राजा नूमा हुआ, जिसने धार्मिक मत-भेद की भिन्न-भिन्न शाखाओं का प्रचार करके प्रत्येक धर्म के भिन्न-भिन्न पण्डे पुजारियों को नियत किया। उसने जेँस देव के नाम पर एक मन्दिर भी बनवाया, जिसके द्वार सदैव बन्द रहते थे। उसके द्वार केवल उसी समय खोले जाते थे, जिस समय रोम के निवासियों को किसी के साथ युद्ध में प्रवृत्त होना पड़ता था। सन् ईसवी से ६७२ वर्ष पूर्व तुल्लूस नामक वहाँ का दूसरा बादशाह हुआ। इसने आलबन नगर को जीत कर रोम में मिलाया। इसके बाद यारटियस ने ई० सन् के ५६४ वर्ष पूर्व रोम राज्य की सीमा समुद्र किनारे तक बढ़ाई।

सन् ईसवी के ५७८ वर्ष पूर्व सरवियस तुल्लूस रोम नगर का स्वामी हुआ उसने रोम-निवासी प्रजा को उनकी आर्थिक

अवस्था के अनुसार छः भागोँ में विभाजित किया। रोम में प्रथम श्रेणी के मनुष्य एक हज़ार नौ सौ थे और निकृष्ट श्रेणी के जिनको जीविका, केवल आकाशी वृत्ति पर निर्भर थी सौ ही मनुष्य थे। राज्य प्रवन्ध-सम्बन्धी नियमों के निर्माण करने में जब प्रथम श्रेणी के मनुष्यों की उन्नीस सम्मतियाँ होती तब निर्धन लोगोँ की एक सम्मति होती थी। अतएव बेचारे निर्धन लोगों के लिये अन्यायकारक व्यवस्थाएँ प्रचलित हो उठी थीं। इसके पश्चात् तारकिन के राजदण्ड हाथ में लेते ही उक्त नियमों को और भी अधिक उत्तेजना दी गई। अन्त में इसका परिणाम यह हुआ कि प्रजावर्ग ने मिल कर उसे देश निकाला दे दिया और सन् ईसवी से ५०६ वर्ष पूर्व रोम से राजकीय शासन उठ गया।

तत्पश्चात् रोम नगर का शासन पुरोहितोँ की एक प्रवन्धकारिणी समिति द्वारा होने लगा। यह प्रवन्धकारिणी समिति और प्रजावर्ग मिल कर दो मान्य पुरुषोँ को अपना प्रमुख नियत कर लेते थे। वे ही लोग रोम के सभापति बन कर न्यायाधीश का कर्त्तव्य पालन करते थे। एक साल तक वे ही रोम के राजा माने जाते थे। परन्तु इसमें इतना पेंच था, कि यद्यपि ऐसे न्यायधीश रोमनिवासी सभ्य और नवागन्तुक दोनों दलों की सम्मति से चुने जाते थे, परन्तु वे प्रायः सभ्य दल ही में से होते थे। इसलिये राज्य दलवालोँ का प्रभाव उत्तरोत्तर बढता गया। सभ्य दल की ओर से नवागन्तुक दल के साथ

अन्याय भी होने लगा। अस्तु वे भी मारने मरने पर उतारु होकर सभ्य दल द्वारा निर्मित पक्षपातमय नियमों का नाश करने और अपने उचित स्वत्व प्राप्त करने के लिये कटिबद्ध हुए। सन् ईसवी के ४८३ वर्ष पूर्व यह झगड़ा भी मिट गया और रोम-नगर-निवासी फिर मिल जुल कर रहने लगे।

रोम राज्य के प्रबन्ध अथवा शासन-सम्बन्धी नियम बनाये तो प्रजा की सम्मति से जाते थे, परन्तु वे लिखे पढे कहीं भी नहीं जाते थे। इसी कारण वहाँ गड़बड़ी बनी रहती थी। सन् ईसवी के ४५३ वर्ष पूर्व रोम में यह प्रथा निकली कि प्रजा की ओर से चुने हुए दस मनुष्य जो नियम लिखें, उनके अनुसार सारी प्रजा के साथ वर्ताव किया जाय और ऐसे नियमों के अनुसार शासन करने के लिये समय समय पर दूसरे दूसरे मनुष्य चुने जाया करें। नियम-निर्माण करनेवाले पुरुषों का राज्यशासन से कुछ भी सम्बन्ध न समझा जावे। इसी प्रथा पर राजकाज होते होते ईसवी के पूर्व सन् २७६ में रोमनगर का राज्य समस्त इटली प्रदेश में फैल गया।

इसके थोड़े ही दिनों बाद रोम नगर-निवासियों को कारथेजियन लोगों के साथ समराङ्गण में अवतीर्ण होना पड़ा। कारथेज की नीव आफ्रिका के एक तट पर रोम से सत्तर वर्ष पूर्व डाली गई थी। वे लोग बढ़ते बढ़ते सिसली टापू के स्वामी बन गये थे। रोमन लोगों ने प्रथम युद्ध में सिसली द्वीप जीत लिया। कारथेज के प्रसिद्ध सेनानायक हैनिबाल ने इटली प्रदेश में पैठ

कर दूसरा युद्ध आरम्भ किया। परन्तु रोम के सेनापति ने कारथेज पर आक्रमण कर दिया। इसलिये हैनिबाल को इटली का मोरचा छोड कर अपने देश की रक्षा के लिये लौटना पड़ा। आफ्रिका के किनारे जामा के युद्ध में हैनिवाल मारा गया और कारथेजियनोँ ने रोम से सन्धि कर ली। परन्तु सन् ईस्वी के पूर्व १४७ में फिर कुछ झगडा खडा हुआ। इस बार रोमन लोगोँ ने कारथेज का सर्वनाश करके वहाँ पर रोम का झण्डा गाड़ दिया। यह युद्ध रोम के इतिहास में प्यूनिकवार के नाम से प्रसिद्ध है। इसी युद्ध के अन्तर्गत रोमन लोगोँ ने गाल, स्पेन, इलोरिया, मेसिडोन, यूनान आदि देशों के कतिपय भूभागों पर अपना अधिकार जमा लिया। दूसरी शताब्दी में रोमन लोग उत्तर की ओर बढे और ब्रिटेन तक अपनी राज्य की सीमा बढ़ाई। इसी समय में दक्षिण में मिश्र और पूर्व में फ़ारिस तक रोमराज्य की विजय-दुन्दुभी बज गई।

इसके अनन्तर राजकीय स्वत्व और जातीय अधिकारों के निमित्त रोम में पुन: परस्पर विरोध की अग्नि धधक उठी। जूलियस सीज़र और पोइमी में घोर कलह उठा। अन्त में पोइमी भाग खड़ा हुआ और जूलियस राज्य-प्रबन्धकारिणी समिति का मुख्य सभासद होकर रोम का डिक्टेटर नियत किया गया। इस पद के अनुसार उसको रोम राज्य की सन्धि और विग्रह-सम्बन्धी नीति के नियमों पर पूर्ण अधिकार प्राप्त था। जूलियस ने ब्रिटेन को विजय करने के पश्चात् रोम में लौट कर चाहा कि

वह स्वयं रोम का बादशाह बन जाय, परन्तु जिस समय इसी बात पर वाद-विवाद हो रहा था, उसी समय कैसियस और ब्रूटस ने सभाभवन ही मे उसे छुरे से मार डाला। जूलियस एक प्रजाप्रिय पुरुष था। इसलिये प्रजा ने अपने तीन मुखिया चुन कर उसके घातकों को नष्ट कर डाला। अन्त में होते होते सन् ईसवी से २६ वर्ष पूर्व अगस्ताइन रोम का बादशाह हुआ। उसने हमारी स्वर्गवासिनी भारतेश्वरी महारानी विक्टोरिया की भाँति ऐसे न्याय-चातुर्य्य से शासन किया कि रोमनगरनिवासी अपने स्वतंत्र प्रजा-शासन के सुखों को भूल गये। उसके समय में रोम नगर ने सङ्गीत, साहित्य और आध्यात्मिक विषयों में वर्त्तमान जापान की भाँति उन्नति की। उसने रोमनगर निवासी दश हज़ार मनुष्यो को युद्धविद्या का शिक्षा देकर उन्हें रोम राज्य के भिन्न भिन्न प्रान्तों में फैला दिया था। अगस्ताइन के पुत्र ने राजगद्दी पर बैठते ही उपरोक्त रणकुशल दल को रोम-नगर के निकट बुला कर रखा। उन्होंने रोम के राजा की वैत-निक सेना को निर्बल पाकर राज्य के विरुद्ध विप्लव उपस्थित किया। इस विप्लव के कारण सन् ६८ ही में अगस्ताइन के वंश का नाश होगया। तत्पश्चात् गालना रोम का राजा नियत किया गया। सन् ८१ ईसवी में इसका पुत्र बड़ा धर्म्मज्ञ हुआ। तत्पश्चात् बहुत दिनों तक एक के बाद एक अच्छे शासक हुए। इसलिये रोम अपनी उन्नति अवस्था में बना रहा। इस समय रोम में बालक बालिकाओँ की शिक्षा राजकीय आज्ञानुसार,

अनिवार्य थी। बालक माता का दूध छोड़ते ही पाठशाला में शिक्षा प्राप्त करने के लिये भेज दिये जाते थे। उनकी शिक्षा के मूलपाठ देशहितैषिता और आत्मनिर्भरता ही होते थे। परन्तु सन् १८० ई० में एण्टोनियस का राज्याभिषेक होते ही रोम की काया पलट गई। रोम नगर के उन स्थानों में जहाँ वीर पुरुषों की वीरता की परीक्षाएँ होती थीं, नाटक-शालाएँ बन गईं। जो रोमवासी वज्र-हृदय समझे जाते थे, वे मक्खन से अधिक कोमल हृदय के हो गये। उन्हें अहर्निश राग रङ्गमय भोग-विलास का व्यसन ही अच्छा लगने लगा। इसलिये रोम राज्य की जितनी सेना थी वह सब विदेशियों के हाथ से मारी गई।

सन् ६०६ ई० में काँसटेण्टाइन रोम का राजा हुआ। इसने रोम राज्य की प्राचीन शासन-प्रणाली पर बिलकुल पानी फेर दिया। प्रजा की सम्मति लेने की प्रथा उठा दी गई। जो जिस प्रान्त का प्रतिनिधि शासक था वही उस प्रान्त की सेना का प्रधान नायक भी बना दिया गया। अतः ऐसे छोटे छोटे अधिपति एक प्रकार के राजा हो गये। उसने रोम नगर से राजधानी को उठा कर, अपने बसाये हुए नगर कुस्तुनतुनिया में स्थापित की।

उसने सन् ३१२ ईस्वी में ईसाई मत को धारण किया और तभी से समस्त रोम में उक्त धर्म का प्रचार हो गया। उस समय से रोम राज्य की सीमा कम होने लगी। रोम की—क्या सभ्य प्रजा और क्या साधारण प्रजा सब में परस्पर एकता का

तार टूट गया और वे लोग दिनों दिन बलहीन होने लगे। यहाँ तक कि सन् ४७६ में रोम का राज्य केवल इटली प्रदेश ही में रह गया।

सन् ३७६ ई० से लेकर रोम राज्य की शक्ति का दिनों दिन ह्रास होता गया। यद्यपि रोम राज्य एक स्वतंत्र राज्य के नाम से प्रख्यात था; तथापि उसकी स्वतंत्रता नाम मात्र की थी। रोमन लोगों की विषय वासना एवम् आनन्द प्रमोद की लिप्सा ने उन्हें ऐसा निर्वल कर दिया कि वे भी एक पराधीन जाति की तरह परमुखापेक्षी हो गये होते; परन्तु सन् १८७० ई० से रोम का भाग्य अचानक फिर जागा। बादशाह नवम पियस ने रोम राज्य के प्राचीन अन्यय नियमों को तोड़ कर यूरोप के वर्त्तमान उन्नतिशाली राज्यों की शासन-प्रणाली को ग्रहण किया। इस पर रोम-नगर वासी वे लोग जो पोप लोगों की अध्यक्षता के पक्षपाती थे, बहुत बिगड़े, किन्तु नवीन नियमों के पक्षपातियों की संख्या अधिक थी, अतः बादशाह ही की इच्छा बलीयसी रही। साथ ही इसके रोम नगर का भी संस्कार किया गया। रोमनगर के वे प्राचीन भवन जो जीर्णोद्धार के योग्य थे सुधारे गये। शेष स्थान साफ सुथरे बनाये गये। रोम नगर के जनपदों में सुन्दर सुन्दर चतुष्पद और वीथियां बनाई गईं। इस पर भी पुराने विचार के लोगों ने बड़ी आपत्ति उपस्थित की। परन्तु म्युनिसिपैलटी ने अपने इस कार्य्य को बड़ी उत्तमता के साथ सम्पादन किया। रोमनगर के प्राचीर का भी सुधार किया

गया। ये सारे कार्य क्रमशः किये गये। इन कार्य्यों में जो धन व्यय किया गया, वह भी म्यूनिसिपैलिटी ने रोम नगर-निवासियों से बड़ी बुद्धिमत्ता के साथ उगाह लिया, सन् १९०० में टिबर नदी का पुल बाँधा गया और अब तक जो रोमनगर दो भागों में बँटा हुआ था, वह मिल कर एक हो गया। इस पुल के बँधने से रोम नगर की केवल शोभा ही नहीं बढ़ी, किन्तु नदी के बढ़ाव से किनारे पर बसनेवाले व्यापारियों की जो प्रायः हानि हुआ करती थी, उसकी भी इति हुई।

३१ दिसम्बर सन् १८७० में रोमनगर की जनसख्या २,२६,०२२ थी; परन्तु ३१ दिसम्बर सन् १८९९ की मनुष्य-गणना में वहाँ की जनसंख्या ५,१२,४२३ थी। वर्त्तमान समय में रोमनगर की स्वास्थ्य-रक्षा का भी उत्तम प्रबन्ध है। सन् १८७० ई० में वार्षिक मृत्युसंख्या सहस्र पीछे ९९ थी, किन्तु अब उद्योगी और उत्साही कर्मचारी तथा माननीय प्रजा के प्रतिष्ठित पुरुषों के परिश्रम और उद्योग से वार्षिक मृतपुरुषों की संख्या सहस्र पीछे केवल १८ है। रोमन लोग पहिले ही से मांस भोजी अधिक थे; रोम नगर जैसे सुवृहत् बूचरख़ाना योरुप भर में और कहीं न था। उस नृशंस बूचरखाने में सन् १८९९ तक प्रति वर्ष लगभग दो लक्ष जानवर मारे जाते थे। परन्तु बुद्धिमान् परिणामदर्शी रोमन लोगों ने, मांसाहार को आध्यात्मिक उन्नति का बाधक समझ कर मांस खाना कम कर दिया। अतः उसके अगले ही वर्ष २३, ८८८ पशु कम मारे गये और दिन दिन कमी होती जाती है।

वर्त्तमान समय में रोमनगर के दान और शिक्षा-विभाग का भी अच्छा प्रबन्ध है। वहाँ पर जितने स्कूल राज्य की ओर से हैं, उनसे अधिक म्यूनिसिपल स्कूल हैं और प्रजा के निज ख़र्च और प्रबन्ध से चलनेवाले स्कूलों की संख्या सब से अधिक है। वहाँ पर ऐसे भी अनेक स्कूल हैं, जिनमें केवल अनाथ बालक एवम् बालिकाओं को धर्म्मार्थ शिक्षा दी जाती है। रोम-नगर में ऐसे तो मोहल्ले मोहल्ले में चिकित्सालय हैं परन्तु दो चिकित्सालय वहाँ ऐसे भी हैं जहाँ पर केवल ऐसे बालकों की चिकित्सा की जाती है, जिनकी माताएँ अपने बच्चों को साधारण चिकित्सागारों में ले जाने से डरती हैं। रोम की जनसंख्या बढ़ने के साथ ही साथ, जब बहुत से निर्धन और भिक्षुक भी बढ गये तब म्यूनिसिपैलिटी ने उनके लिये सोच कर कुछ ऐसे काम निकाले जिन्हें अपाहज लोग घर में बैठे बैठे कर सकें और जिससे उनकी जीविका चले तथा सर्वसाधारण का काम हो और म्यूनिसिपैलिटी की आय भी बढ़े।

यह सब कुछ हो चुकने पर भी रोमनगर में सामाजिक महत्व का बखेड़ा चल रहा था। समस्त रोमनिवासी तीन दलों में विभक्त थे और वे एक दूसरे को नीचा और अपने को बड़ा बताते थे। होते होते जब उन्होंने समझ लिया कि बड़ों का बड़प्पन छोटे लोगों हो पर निर्भर है; यदि छोटे न हों, तो बड़ा फिर कौन हो अथवा छोटे बड़े केवल कार्य साधन के निमित्त देश-हितैषिता एवम् जातीयता के विषय में सब एक दूसरे के

भाई भाई के समान है, तब उन्होंने आत्मस्पर्धा का त्याग कर परस्पर में प्रेमभाव धारण कर लिया। इस समय रोमनगर अच्छी दशा में है।

—कुँवर कन्हैया जू।

शाहजहाँ की दिनचर्य्या

दिल्ली के सुप्रसिद्ध बादशाह शाहजहाँ बड़े सत्स्वभाव और शान्ति-प्रिय नरेश थे। यह मुसलमान वा हिन्दू प्रजा को एक दृष्टि से देखते थे। इनके शासन समय में भारतवर्ष में सर्वत्र शान्ति विराजती थी। देश में सब प्रकार की उन्नति थी। ऐसे प्रताप-शाली बादशाह की दिनचर्य्या हम अपने प्रिय बालकों के लिये मनोरञ्जक समझ कर नीचे प्रकाशित करते हैं।

शाहजहाँ सूर्य्योदय से दो घण्टे पहले जागते थे और फिर अपनी धार्म्मिक क्रिया में लगते थे। कुरान पढ़ कर वे ईश्वर का ध्यान करते थे। महल की मसजिद में ईश्वर की बन्दना करके वह सासारिक कार्यों में लग जाते थे। शाहजहाँ का सब से पहला काम यह था कि वह अपनी प्रजाको अपने मुख का दर्शन देते थे। इसको झरोखा दर्शन कहते थे। आगरे के क़िले की यमुना-कूल की पूर्व दीवार में झरोखा इसी लिये रक्खा गया था। किले के नीचे बड़ा मैदान था। इसी में दर्शन करनेवाली प्रजा आ कर खडी होती थी। यहाँ पर बादशाह दीन दुखियों की अर्ज़ी भी लेते थे। इस प्रकार प्रति दिन अपनी प्रजा से

मिल जुल भी लेते थे और उसके हृद्‌गत भावों और विचारों को समझ लेते थे।

अर्ज़ी लेने के लिये क़िले के ऊपर से डोरी लटकाई जाती थी। दीन दुखी या किसी के द्वारा सताये हुए मनुष्य अपनी अर्ज़ी उसमें बाँध देते थे। वह अर्ज़ी ऊपर खींच ली जाती थी और बादशाह अपना हुक्म उस पर चढ़ा देते थे। यह रीति बादशाह अकबर ने प्रचलित की थी। इसके पीछे शाहजहाँ हाथी की लड़ाई देखते थे। यह लड़ाई बादशाह के हुक्म के बिना और कोई नहीं करा सकता था। शाहजहाँ को हाथियों की लड़ाई देखने का बड़ा शौक़ था। कभी कभी इस मैदान में ५ हाथी तक लड़ते थे। नये लाये हुए हाथी भी बादशाह को दिखाये जाते थे। यहाँ पर हाथियों को युद्ध की शिक्षा दी जाती थी और सरदार हाथी फ़ौज़ के घोड़ों की क़वायद भी होती थी।

इसके पीछे दीवानेआम में दरबार होता था। अकबर और जहाँगीर एक बड़े भारी शामियाने के नीचे बैठ कर यह दरबार करते थे। सन् १६३८ ई० में दीवानेआम नाम का एक वृहत् पत्थर का भवन शाहजहाँ ने बनवाया था।

दश बजे के समय बादशाह दीवाने ख़ास मे पधारते थे। यहाँ पर वह अपने हाथ से परमावश्यक पत्रों का उत्तर स्वयं लिखते थे। सब चिट्ठी पत्री बादशाह स्वयं देख भाल करते थे। और राजकीय मोहर लगवाते थे। इस मोहर की अध्यक्ष मुम-

ताज़महल वेगम थी। कागज़-पत्रों पर हरम ही में मोहर लगाई जाती थी।

दान के महकमे के अफ़सर अपना अपना काम करते थे। कितने ही मनुष्यों को जमीन, नकद रुपये तथा दानपत्र दिये जाते थे। सदर दफ्तरों के कामों को देख कर बादशाह सुदक्ष दस्तकारों के काम का मुलाहिज़ा करते थे। इसी कारण दस्तकारी की उन दिनों बड़ी उन्नति थी। इमारतों के नक्शे देख कर बादशाह उनमें खूबसूरती लाने के लिये तरमीम कर देते थे। शाहजहाँ के दरबार में इस विषय पर बड़ा ध्यान दिया जाता था। यह सब कर चुकने पर बादशाह शिकार के जानवरों को देखते थे। इस तरह से दो घंटे इन काम काजों में लग जाते थे।

वहाँ से उठ कर ११॥ बजे वे शाहबुर्ज पर जा विराजते थे। यहाँ पर राजकीय विषय की गुप्त मन्त्रणा होती थी। बहुत ही विश्वास-पात्र अफ़सर यहाँ जाने पाते थे। अन्य नौकर बाहर खड़े कर दिये जाते थे। वजीरे आजम के साथ यह सब गुप्त बातें होती थीं। लगभग पौन घण्टा इन बातों में लग जाता था।

ठीक दोपहर को वे हरम (अन्तःपुर) में पहुँचते थे। वहाँ पर ईश्वरीय प्रार्थना करके वह भोजन करते थे। इसके बाद लगभग एक घंटा सोते थे। बहुत से राजा, महाराजा, बादशाह अन्तः-पुर में भोग विलास में फँस जाते थे। परन्तु शाहजहाँ ने वहाँ भी अपने लिये काम रख छोड़ा था। भिखारिन, दरिद्र, विधवा,

अनाथा, दरिद्र कुलों की कारी कन्याओं तथा दरिद्र विद्वानों की बहू बेटियों को बादशाह की ओर से यथोचित दान दिया जाता था। बेगम और बादशाह की मंजूरी से इस समय बहुत सा रुपया दान होता था। किसी को ज़मीन, किसी को पेंशन, किसी को जवाहरात तथा गहने दिये जाते थे। विवाह योग्य कारी कन्याओं के विवाह के लिये रुपये दिये जाते थे।

तीन बजे के बाद बादशाह असर की नमाज पढ़ते थे। कभी कभी दरबार करते थे। बादशाह के कुछ कामों की देख भाल कर चुकने पर महल के सैनिक रक्षक सलामी उतारते थे। बादशाह फिर सायंकाल की प्रार्थना के लिये दीवाने ख़ास में जाते थे। प्रार्थना के पश्चात् रात्रि को महल में रोशनी होती थी और शाहजहाँ और उनके खास ख़ास दरबारी राज्य-प्रबन्ध की कुछ बातें करते थे। इसके पीछे आनन्द मनाया जाता था। खूब गाना बजाना होता था। शाहजहाँ स्वयं खूब अच्छा गाते बजाते थे। बादशाह को गाने बजाने का पूरा शौक़ था। इस समय बड़े बड़े सूफ़ी भी इस आनन्द-मण्डली में सम्मिलित होते थे।

रात को आठ बजने पर फिर वह गुप्त मन्त्रणा के लिये शाहबुर्ज़ पर जाते थे। बख़शी और वजीर आज़म से काम काज की बातें कर के दिन का काम पूरा करते थे। अगले दिन के लिये कोई काम छोड़ना बादशाह को पसन्द न था।

साढे आठ बजे वे अन्त:पुर को जाते थे। वहाँ दो तीन घंटे स्त्रियों का गाना बजाना सुनते थे। तब बादशाह पलंग पर लेट

जाते थे और किताबें सुना करते थे। अच्छे पढने वाले एक पर्दे की ओट में बैठा करते थे जिससे कि बादशाह के सोने के कमरे से अलग रहें। यात्राओं, फ़क़ीरों और आबिदों के जीवन-चरित्र, पहले बादशाहों के पुराने हालात की किताबों को वे सुना करते थे। तैमूर बादशाह का जीवन चरित्र, बाबर की स्वयं लिखी हुई आत्मजीवनी उनकी बड़ी प्यारी किताब थीं। रात के दस बजे बादशाह सोते थे और ६ घण्टे सो कर दूसरे दिन का काम शुरू किया जाता था। शाहजहाँ का जीवन इस परिश्रम से कटता था। इन्हीं गुणों के कारण उनके राज्य में सर्वत्र आनन्द मङ्गल रहता था।

शुक्रवार को सर्वत्र छुट्टी रहती थी। बुधवार न्याय के लिये विशेष दिन नियत किया गया था। उस रोज काज़ी और उलमा लोगों के साथ एक ख़ास दरबार होता था और उसमे बड़े बड़े न्याय के मुकद्दमे पेश होते थे। इस तरह से शाहजहाँ बादशाह का जीवन आगरे में व्यतीत होता था। कभी कभी वह नगर की सैर करने को निकलते थे; कभी शिकार खेलने को और कभी दौरा करने को ठाट बाट से जाते थे। इन बातों से मालूम होता है कि यह बादशाह फूलों की सेज पर ही आराम, सुख-सम्भोग करने वाले नहीं थे किन्तु राज कार्य्यों के करने में भी बड़ा परिश्रम करते थे।

—स्वा० बा०

जटायू का सीता के लिये प्राण देना

गृद्धराज सुनि आरत वानी। रघुकुल तिलक नारी पहिचानी॥
अधम निशाचर लीन्हें जाई। जिमि मलेच्छ वस कपिला गाई॥
अहह प्रथम बल मम तनु नाही। तदपि जाइ देखौं बल ताहीं॥
सीता पुत्रि करसि जनि त्रासा[1]। करिहौं यातुधान[2] कर नासा॥
धावा क्रोधवन्त खग कैसे। छूटे पवि[3] पर्वत पहँ जैसे॥
रे रे दुष्ट ठाढ़ किन होहीं। निर्भय चलसि न जानसि मोंहीं॥
आवत दीख कृतान्त[4] समाना। फिरि दसकन्ध करन अनुमाना॥
की मैनाक कि खगपति होई। मम बल जान सहित पति सोई॥
जाना जरठ जटायू येहा। मम कर तीरथ छाँड़िहि देहा॥

दोहा—मम भुज बल नहि जानत आवत तपिन सहाइ।
समर चढ़ै तौ यहि हतौं जियत न निज थल जाइ॥१॥

सुनत गृद्ध क्रोधातुर धावा। कह सुनु रावण मोर सिखावा॥
तजि जानकी कुशल गृह जाहू। नाहित अस होइहि बहु बाहू॥
रामरोष पावक अति घोरा। होइहि सकल शलभ कुल तोरा॥
उतर न देइ दशानन योधा। तबहि गृद्ध धावा करि क्रोधा॥
धरि कच बिरथ कीन्ह महि गिरा। सीतहिँ राखि गृद्ध पुनि फिरा॥
दशमुख उठि कृत शर सन्धाना। गृद्ध आइ काटेउ धनु वाना॥
चोंचन मारि विदारेसि देही। दण्ड एक भइ मूर्च्छा तेही॥

१ दुख। २ राक्षस। ३ वज्र। ४ काल।

दोहा—जेइ रावण निज वस किये मुनि गण सिद्ध सुरेश।
तेइ रावण सन समर अति धीर वीर गृध्रेश॥

स्वस्थ भये सो पुनि उठि धावा। मारे गृद्ध न सम्मुख आवा॥
कीन्हेसि जव वहु युद्ध खगेशा। थकित भयो तब जरठ ग्रिधेशा॥
तव सक्रोध निशिचर खिसियाना। काढ़ेसि परम कराल कृपाना॥
काटेसि पंख परा खग धरणी। सुमिरि राम की अद्भुत करणी॥
मन मह गृद्ध परम सुख माना। राम काज मम लाग्यो प्राना॥
सीतहिँ यान चढ़ाय वहोरी। चला उताइल त्रास न थोरी॥
करती विलाप जात नभ सीता। व्याध त्रिवश जनु मृगी सभीता॥
गिरि पर वठे कपिन निहारी। कहि हरि नाम दीन्ह पट डारी॥
यहि विधि सीतहिँ सो लै गयऊ। वन अशोक मँह राखत भयऊ॥

—तुलसीदास

आयोदधौम्य और उनके शिष्य

आरुणि

महर्षि आयोदधौम्य के आरुणि नाम का एक शिष्य था। एक दिन उन्होंने आरुणि से कहा—"वेटा! खेत का सारा जल वाहर निकला जा रहा है, तुम तुरन्त जाकर खेत की मेंड वाँध दो।"

गुरु की आज्ञा पाते ही आरुणि झट दौड़ा गया और मेंड वाँधने लगा। किन्तु एक तो वर्षा का ज़ल और दूसरे गीली

मिट्टी—इससे जिस मिट्टी से वह मेंड़ बाँधता था, वह झट बह जाती। आरुणि ने जल रोकने की बहुत चेष्टा की पर जल तब भी न रुका।

किन्तु आरुणि काम आरम्भ कर बिना उसे पूरा किये, चुपचाप बैठनेवाला युवक न था। जब मेंड़ को पानी फोड़ता, तब आरुणि झट मिट्टी थोप देता था। परन्तु जब इससे भी कुछ फल नहीं हुआ, तब आरुणि जल रोकने के लिये मेंड़ के पास जा लेटा। उसके ऐसा करने से जल भी रुक गया और उसका मन भी बहुत प्रसन्न हुआ।

उधर जब संध्या हो गई और आरुणि लौट कर घर न गया, तब महर्षि ने अपने और शिष्यों से पूछा—"आरुणि कहाँ है?"

शिष्यगण—भगवन्! सबेरे आपने उसे खेत की मेंड़ बाँधने को भेजा था, तब से वह लौट कर यहाँ नहीं आया।

यह सुन मुनि को चिन्ता हुई और उन्होंने घबड़ा कर पूछा:—

महर्षि—क्या कहा, क्या वह अब तक नहीं आया? तब तो अवश्य वह किसी संकट में पड़ गया। ज़ल्दी चलो, उसका पता लगाना चाहिए।

यह कह कर आयोदधौम्य खेत के पास पहुँच कर आरुणि का नाम ले कर उसे पुकारने लगे।

महर्षि—बेटा आरुणि! तुम कहाँ हो? शीघ्र आओ।

गुरु का शब्द सुन आरुणि धीरे धीरे जल के बाहर निकल कर गुरु के पास गया और उन्हें प्रणाम किया। तब गुरु ने उससे पूछा :—

महर्षि—बेटा! अभी तक तुम कहाँ थे?

आरुणि—भगवन्! जब मैं पानी किसी तरह न रोक सका, तब मैं स्वयम् मेंड़ के पास पड़ रहा और पानी को रोक रखा। अब आपकी क्या आज्ञा है। अब मुझे क्या करना होगा?

आरुणि का हाल सुन, महर्षि के मन में बड़ी दया उपजी। वे कहने लगे :—

महर्षि—बेटा! तेरा मङ्गल हो। मेरे आशीर्वाद से तू सर्व शास्त्रों का अद्वितीय (बेजोड़) पण्डित होगा। मेंड़ छोड़ कर तू मेरे पास चला आ। मैंने तेरा नाम उद्दालक रखा।

इस प्रकार आरुणि, सारी विद्याओं को पाकर और गुरु को प्रणाम कर अपने घर लौट गया।

उपमन्यु

आयोदधौम्य के दूसरे शिष्य का नाम उपमन्यु था। एक दिन महर्षि ने उपमन्यु से कहा :—

महर्षि—बेटा! मैं तुझे अपनी गौवों के चराने का काम सौंपता हूँ। तू बड़े यत्न के साथ उनकी देख रेख रखना।

उपमन्यु बड़े यत्न से गुरु जी की गौवें को चराने लगा। सारे दिन गौवों को चरा कर वह संध्या के समय आश्रम में

आता और गुरु जी को प्रणाम कर उनके सामने खड़ा हो जाता। इस रीति से जब बहुत दिन बीत गये तब एक दिन महर्षि ने देखा कि उपमन्यु दिनों दिन मोटा होता चला जाता है। इससे उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ और उन्होंने उससे पूछा।

महर्षि—बेटा! तुम नित्य मोटे होते चले जाते हो, इसका क्या कारण है? तुम क्या खाया करते हो?

उपमन्यु—भगवन्! भिक्षा माँग कर जो कुछ मैं पाता हूँ, उसीसे अपना पेट भर लिया करता हूँ।

महर्षि—यह क्या? भिक्षा माँग कर जो तुम लाते हो उसे बिना हमें दिखलाये खा लिया करते हो—यह तो ठीक नहीं।

तब से बराबर उपमन्यु जो कुछ माँग जाँच कर लाता, वह गुरु के सामने रख देता। गुरु उसमें से कुछ भी उपमन्यु को न देता। उपमन्यु तब भी बहुत प्रसन्न रहता और सारे दिन गौवों को चरा कर, संध्या के समय हाथ जोड़ कर गुरु के सामने जा खड़ा होता। महर्षि ने देखा, तब भी उपमन्यु की मुटाई कुछ कम न हुई। बल्कि वह दिनों दिन और भी मोटा होता जाता है तब बड़े आश्चर्य में आकर महर्षि ने उपमन्यु से पूछा :—

महर्षि—बेटा उपमन्यु! भिक्षा माँग कर जो कुछ तुम लाते हो वह सब तो मैं रख लेता हूँ। तिस पर भी तुम मोटे होते चले जाते हो। आज कल तुम क्या खाते पीते हो?

उपमन्यु—भगवन्! एक बार आपके लिये भिक्षा माँग कर दूसरी बार अपने लिये फिर भिक्षा माँगने जाया करता हूँ।

महर्षि—यह तो तू बड़े अन्याय का काम किया करता। तेरे ऐसा करने से औरों की भिक्षा में कमी पड़ती । भले लोग ऐसा काम नहीं करते।

इस पर उपमन्यु राजी हो गया और दूसरी बार भिक्षा माँगने न जाने लगा। दिन भर गौवों को चराता और श्याम को गुरुजी के सामने हाथ जोड़ कर आ खड़ा होता था। महर्षि ने देखा उपमन्यु की मुटाई तब भी कम नहीं हुई। तब उन्होंने उससे फिर पूछा :—

महर्षि—बेटा! तू अपनी भिक्षा का सारा अन्न तो मुझे लाकर दे देता है और फिर अपने लिये माँगने नहीं जाता तिस पर भी तू क्यों मोटा होता है? आज कल तू क्या खाता है?

उपमन्यु—भगवन्! आज कल मैं गौवों का दूध पीता हूँ।

महर्षि—हमने जब तुझे दूध पीने की आज्ञा नहीं दी, तब तू क्यों दूध पी लिया करता है। यह तो ठीक नहीं।

उपमन्यु ने लज्जित होकर कहा—"जो आज्ञा। अब दूध न पीऊंगा।" इसके बाद उपमन्यु दिनभर गौवों को चरा कर संध्या समय गुरु जी के सम्मुख हाथ जोड़ कर आ खड़ा होता। उपमन्यु तब भी न लटा। तब महर्षि ने उससे फिर पूछा :—

महर्षि—बेटा! तू अपने लिये भिक्षा भी नहीं लाता, गौवों का दूध भी पीना छोड़ ही चुका; अब तू क्या खाया पिया करता है।

उपमन्यु—बछड़ों के मुख से दूध पीते समय दूध का जो फेन गिरा करता है मैं आज कल वही खा लिया करता हूँ।

महर्षि—हरे! हरे! बेटा ऐसा फिर न करना। बछड़ों के हृदय में बड़ी दया होती है। जब वे तुम्हें फेन खाते देखते होंगे, तब तेरे लिये वे अधिक फेन डाल दिया करते होंगे। इससे उनका पेट न भरता होगा।

उपमन्यु—(नीचा सिर करके) बहुत अच्छा।

अब उस बेचारे के सभी आहार के द्वार बन्द हो गये। न तो वह अपने लिये भिक्षा माँग सकता, न दूध पी सकता और न फेन ही खा सकता। तो भी भूख प्यास को सह कर वह गुरु जी की गौवों को चराने लगा। जब बहुत भूख लगती, तब सामने वाले पेड़ के थोड़े थोड़े से पत्ते तोड़ कर, वह चबा डालता और इस तरह अपना पेट भर लिया करता था। उन पत्तों को लगातार कई दिन खाते खाते, उपमन्यु धीरे धीरे अन्धा हो गया और एक दिन संध्या को घर लौटते समय एक कुएँ में गिर पड़ा।

उधर संध्या हो जाने पर भी जब उपमन्यु न आया, तब महर्षि को बड़ी चिन्ता हुई और उन्होंने अपने शिष्यों से कहा :—

महर्षि—देखो उपमन्यु आज अभी तक नहीं लौटा। उसका आहार बन्द कर दिया गया है। जान पड़ता है इससे वह अप्रसन्न हो गया है। चल कर देखना चाहिये वह कहाँ गया।

बन में जाकर महर्षि उपमन्यु नाम लेकर उसे पुकारने लगे।

गुरु जी का शब्द पहचान कर उपमन्यु ने कुएं के भीतर से बड़ी जोर से कहा :—

उपमन्यु—भगवन् ! मैं कुएं मे गिर पड़ा हू ।

महर्षि—(साश्चर्य) तुम कुएँ में क्यों कर गिरे ?

उपमन्यु—आक के पत्ते खाने से मैं अन्धा हो गया हूं। इसी से मै कुएं में गिर पडा हूं ।

महर्षि—अच्छा, अश्विनीकुमारों की स्तुति कर, तेरी आँखें अच्छी हो जायगी।

तब उपमन्यु ने अश्विनीकुमारों की स्तुति की। और वे प्रसन्न हो कर उसके पास आकर बोले :—

अश्विनीकुमार—हम तेरी स्तुति से तेरे ऊपर बहुत प्रसन्न हैं। हम तेरे लिये यह मिठाई लाये हैं , तू इसे खा ले।

उपमन्यु ने उन देवताओं को प्रणाम किया और विनय-पूर्वक कहा —

उपमन्यु—आप लोगों की बात तो मैं नहीं टाल सकता, पर गुरु को पहले अर्पण किये बिना मैं कुछ भी नही खा सकता।

अश्विनीकुमार—एक बार हमने तेरे गुरु को यह मिठाई दी थी और उन्होंने अपने गुरु को बिना दिये ही खा लिया था। जैसा उन्होंने किया वैसा ही तू भी कर। इसमें तुझे क्या अटकाव है ?

उपमन्यु—(हाथ जोड़ कर) मैं आप से विनयपूर्वक कहता हूँ कि मैं गुरु को दिये बिना पिष्टक न खाऊंगा।

अश्विनीकुमार—(प्रसन्न होकर) हम लोग तेरी गुरु-भक्ति देख कर बहुत प्रसन्न हुए हैं। तेरे गुरु के दाँत लोहे के और तेरे सोने के होंगे। तेरी आँखें तो अच्छी हो ही जावेंगी, इसके अतिरिक्त तेरा कल्याण भी होगा।

यह बात पूरी होते न होते उपमन्यु की आँखें खुल गईं और कुएँ के भीतर से उसे सब वस्तुएँ दिखाई पड़ने लगीं। इससे उपमन्यु को बड़ी प्रसन्नता हुई और बड़ी भक्ति के साथ उसने देवताओं को धन्यवाद दिया। फिर उसे कुएँ से निकलते देर न लगी। इसके बाद उपमन्यु ने आकर सारा हाल अपने गुरु जी से कहा। गुरु जी उपमन्यु का सारा हाल सुन बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने उसे आशीर्वाद देते हुए कहा :—

महर्षि—अश्विनीकुमारों ने जैसा कहा है, वैसा ही होगा। तेरा हर प्रकार से कल्याण होगा। आज से वेद तथा अन्य शास्त्रों की कोई बात ऐसी न रहेगी, जिसे तू न जानता हो।

इस प्रकारसे आयोदधौम्य अपने शिष्यों की परीक्षा लिया करते थे। उस समय के मुनिगण हर किसी को विद्या नहीं दिया करते थे। क्योंकि वे जानते थे कि पात्र में दी हुई विद्या फूलेगी और फलेगी। पात्र को विद्यादान करने से उनकी कीर्ति बढ़ेगी। देश, धर्म और समाज की भलाई होगी। इससे महर्षि आयोदधौम्य अपने शिष्यों की भली भाँति परीक्षा कर लिया करते थे। पर यदि वे महर्षि परीक्षा की इतनी दुखदायी और कड़ी जाँच के प्रत्युत अन्य सरल उपाय निकालते तो ऐसे अच्छे

सुयोग्य विद्वान् उनके शिष्य न होते क्योंकि ऐसी कड़ी परीक्षा में सफल होना हर एक का काम नहीं है। जिस शिष्य की महर्षि एक बार भी परीक्षा लेते, वह उसे आजन्म नहीं भूलता था।

—भारतीय-उपाख्यान माला

सुभाषित-रत्न-माला

१—जहाँ रहे गुणवन्त नर, ताकी शोभा होत।
जहाँ धरै दीपक तहाँ, निहचै करत उदोत॥

२—श्री को उद्यम के विना, काऊ पावत नाहि।
लिये रतन अति यतन सौं, सुर असुरन दधि नाहि॥

३—नहिं धन धन है परम धन, तोपहिं कहहि प्रवीन।
विन सन्तोप कुवेरहू, दारिद्र दीन मलीन॥

४—आपु आपु कहँ सब भलो, अपने कहँ कोइ कोइ।
तुलसी सब कहँ जो भलो, सुजन सराहिय सोइ॥

५—तुलसी मीठे वचन तें, सुख उपजत चहु ओर।
वसीकरन एक मंत्र है, तज दे वचन कठोर॥

६—तुलसी सत सुअंब तरु, फूल फलहि परहेन।
इतते ये पाहन हने, उतते वे फल देत॥

७—काम क्रोध मद लोभ की, जब लग मन में खान।
तब लग पण्डित मूरखौ, तुलसी एक समान॥

८—आवत ही हर्ष नहीं, नयन नहीं सनेह।
तुलसी तहाँ न जाइये, कञ्चन बरसै मेह॥

९—तुलसी झगड़ा बड़न के, बीच परहु जनि धाय।
लड़ै लोह पाहन दोऊ, बीच रुई जरि जाय॥

१०—तुलसी निज कीरति चहहिं, पर कीरति को खोय।
तिनके मूँहमसि लागिहैं, मिटहिं न मरिहै धोय॥

११—स्वारथ सौं जानेहु सदा, जाते विपति नसाय।
तुलसी गुरु उपदेश बिनु, सो किमि जानो जाय॥

१२—नीच निचाई नहिं तजै, जो पावै सत सङ्ग।
तुलसी चन्दन विटप बसि, विष नहिं तजत भुजङ्ग॥

१३—सब बिधि प्रबल विरोध तै, होत निबल की हानि।
युद्ध क्रुद्ध युत करि करैं, दूरैं तरुन की ग्लानि॥

१४—खल जन को विद्या मिले, दिन दिन बढ़ै गुमान।
बढ़ै गरल बहु भुजग कौं, तथा किये पय पान॥

१५—ज्ञानी कटु स्तुति सठन की, धीर न होहिँ मलान।
कहा हानि मृगराज की, भूँकत जौ लखि श्वान॥

१६—नहीं पढ़ायो पुत्र को, सो पितु बड़ा अभाग।
सोहत बैठो बुध सभा, ज्यौं हंसन में काग॥

१७—विद्या बिनु सोहैं नहीं, छवि जीवन कुल मूल।
रहित सुगन्ध सजैन नहीं, जैसे सेमल फूल॥

१८—नीच बड़न के सङ्ग तें, पदवी लहत अतोल।
परे सीप में जलद-जल, मुक्ता होत अमोल॥

१६—सुखो होहि नहि जाति निज, लखि खल महा अबोध।
श्वान अपर को देखि कै, करै परस्पर क्रोध॥
२०—नहीं रूप कछु रूप है, विद्या रूप निधान।
अधिक पूजियत् रूप तैं, बिना रूप विद्वान॥
२१—नहिं धन धन है बुध कहैं, विद्या वित्त अनूप।
चोरि सकं नहि चोरहू, छोरि सकै नहि भूप॥
२२—कुलहि प्रकासै एक सुत, नहिँ अनेक सुत निन्द।
चन्द एक सब तम हरै, नहि उडुगन के वृन्द॥
२३—निरबुद्धो धनवान को, मानत सकल जहान।
लखि दरिद्र विद्वान्, को, जग-जन करै गलान॥
२४—सकटहू में होइ के, पर-दुख हरन महान।
जलद-पटल झंपित तऊ, जग-तम नासत भान॥
२५—पराधीनता दुख महा, सुख जग मैं स्वाधीन।
सुखी रहत शुक वन विषै, कनक पींजरे दीन॥
२६—निबल जानि कीजै नही, कबहूँ वैर विवाद।
जीते कछु शोभा नहीं, हारे निन्दा वाद॥
२७—अन्तर तनिक न राखिए, जहाँ प्रीति व्यवहार।
उर सों उर लागै न तहँ, जहाँ रहतु है हार॥
२८—कबहूँ प्रीति न जोरिये, जोरि तोरिये नाहि।
ज्यों तोरे जोरे बहुरि, गाँठ परत गुन माहि॥
२९—साधु न जाँचत कृपिन सों, परै विषम जड़ भीर।
घट तैं कबहुँ न जाचहीं, प्यासे चातक नीर॥

३०—बहु छुद्रन के मिलन तें, हानि बली की नाहिं।
जूथ जम्बुकिन तें नहीं, केहरि मारे जाहिं॥

३१—करै न बुध विश्वास को, प्रियवादी खल संग।
सुनि बीना की मधुरता, मारे जात कुरंग॥

३२—बड़े बड़ेन के भार को, सहै न अधम गँवार।
साल तरुन मै गज बँधै, नहि आँकन की डार॥

३३—गये असज्जन की सभा, बुध महिमा नहि होय।
जिमि काकन की मण्डली, हँस न सोहत कोय॥

३४—बड़े न लोपैं लाज कुल, लोपैं नीच अधीर।
उदधि रहै मर्याद मैं, बहै उमडि नदनीर॥

३५—नीच सङ्ग तें सुजन को, मान हानि ह्वै जाइ।
लोह कुटिल के सङ्ग तें, सहै अगिन घन घाइ॥

३६—दान दीन को दीजिये, हरै दरिद्र की पीर।
औषधि ताको दीजिये, जाके रोग शरीर॥

३७—दुष्ट रहै जा ठौर पर, ताको करै बिगार।
आग जहा ही राखिए, जारि करै तेहि छार॥

३८—धन अरु जोवन को गरब, कबहु करिये नाहिं।
देखत ही मिट जात है, ज्यों बादर की छाहिं॥

३९—जा मन होय मलीन सो, पर सम्पदा सहै न।
होत दुखी चित चोर को, चितै चदन-रुचि रैन॥

४०—सेवक सोई जानिये, रहै विपति मैं सङ्ग।
तन-छाया ज्यों धूप मैं, रहै साथ इक रङ्ग॥

४१—सुन्दर ठाँव न छोडिये, जौं लौं होय न और।
पिछलो पाँव उठाइये, देखि धरनि को ठौर॥

४२—सन्त कष्ट सहि आपुही, सुखी करैं जु समीप।
आप जरै तउ और को, करै उजेरो दीप॥

४३—वह सम्पति केहि काम की, जनि काहू पै होय।
नित्य कमावै कष्ट करि, बिलसै औरहि कोय॥

४४—तुलसी जस भवितव्यता, तैसी मिलै सहाय।
आपु न आवै ताहि पै, ताहि तहाँ लै जाय॥

४५—नीच चंग सम जानियो, सुनि लखि तुलसीदास।
ढील देत भुइ गिरि परत, खैंचत चढ़त अकास॥

४६—तुलसी कबहुँ न त्यागिये, अपने कुल की रीति।
लायक ही सों कीजिये, ब्याह बैर अरु प्रीति॥

४७—तुलसी सतन तें सुने, सतत यही बिचार।
तन धन चंचल अचल जस, जुग जुग पर उपकार॥

४८—नीच नीचाई नहि तजैं, ज्यों पावहि सतसंग।
तुलसी चन्दन बिटप बसि, बिष नहि तज्यो भुजंग॥

४९—दुरजन दरपन सम सदा, करि देखो हिय दौर।
सम्मुख की गति और है, विमुख भये कछु और॥

५०—तुलसी सो समरथ सुमति, सुकृती साधु सुजान।
जो विचार व्यवहरत जग, खरच लाभ अनुमान॥

५१—तुलसी असमय के सखा, साहस धर्म्म विचार।
सुचरित सील स्वभाव रिजु, राम - सरन - आधार॥

श्रीकृष्णजी का जन्म

श्रीशुकदेवजी बोले, राजा जिस समय श्रीकृष्णचन्द्र जन्म लेने लगे तिस काल सब ही के जी में ऐसा आनन्द उपजा कि दुख नाम को भी न रहा, हर्ष से लगे बन उपवन हरे हो हो फलने फूलने, नदी नाले सरोवर भरने तिन पर भाँति भाँति के पंछी कलोल करने, नगर नगर गाँव गाँव घर घर मंगलाचार होने, ब्राह्मण यज्ञ रचने, दसों दिशा के दिग्पाल हरखने, बादल ब्रजमण्डल पर फिरने, देवता अपने अपने बिमानों में बैठे आकाश से फूल बरसावने, विद्याधर गन्धर्व चारण ढोल दमामें भेरी बजाय गुन गाने और एक ओर उर्वशी आदि सब अप्सरा नाच रही थीं कि ऐसे समय भादों बदी अष्टमी बुधवार रोहिणी नक्षत्र में आधी रात श्रीकृष्ण ने जन्म लिया और मेघवरण चन्द्रमुख कमलनयन हो पीताम्बर काछे मुकुट धरे बैजन्ती माल और रतन जटित आभूषण पहिरे, चतुर्भुज रूप किये, शंख चक्र गदा पद्म लिये, वसुदेव देवकी को दर्शन दिया। देखते ही अचम्भे हो तिन दोनों ने ज्ञान से विचारा तो आदि-पुरुष को जाना। तब हाथ जोड़ विनती कर कहा हमारे बड़े भाग्य जो आपने दर्शन दिया और जन्म मरन का निवेड़ा किया। इतना कह पहली कथा सब सुनाई जैसे जैसे कंस ने दुख दिया था। तहाँ श्रीकृष्णचन्द्र बोले तुम अब किसी बात की चिन्ता मन में मत करो क्योंकि मैंने तुम्हारे

दुःख के दूर करने ही को अवतार लिया है पर इस समय मुझे गोकुल पहुँचा दो और इसी बिरियाँ यशोदा के लड़की हुई है सो कंस को ला दो। अपने जाने का हेतु कहता हूँ सो सुनो।

नन्द यसोदा तप कस्यो, मोही सों मन लाय।
देख्यो चाहत बाल सुख, रहौं कछू दिन जाय॥

फिर कंस को मार आन मिलूँगा, तुम अपने मन में धीरज़ धरो। ऐसे वसुदेव देवकी को समझाय, श्रीकृष्ण बालक बन रोने लगे और अपनी माया फैला दी। तब तो वसुदेव देवकी का ज्ञान गया और जाना कि हमारे पुत्र भया, यह समझ दस सहस्त्र गाय मन में सङ्कल्प कर लड़के को गोद में उठाया छाती से लगाय लिया। उसका मुँह देख देख दोनों लम्बी साँसें भर भर आपस में लगे कहने जो किसी रीति से इस लड़के को भगा दीजे, कंस पापी के हाथ से बचा दीजे। वसुदेव बोले :—

बिधना बिन राखे नहि कोई। करम लिखा सोई फल होई॥
तब कर जोरि देवकी कहै। नंद मित्र गोकुल में रहै॥
पीर यसोदा हरै हमारी। नारि रोहिनी तहाँ तिहारी॥

इस बालक को वहाँ ले जाओ। यों सुन वसुदेव अकुलाकर कहने लगे कि इस कठिन बन्धन से छूट कैसे ले जाऊँ। जो इतनी बात कही तब तो बेड़ी हथकड़ी खुल गईं, चारों ओर के किवाड़ उघर गये, पहरुये अचेत नींद बस भये। तब तो वसुदेवजी ने श्रीकृष्णजी को सूप में रख सिर पर धर लिया और झटपट ही गोकुल को प्रस्थान किया।

ऊपर बरसे देव, पीछे सिंह जो गुञ्जरे।
सोचत हैं वसुदेव, यमुना देख प्रवाह अति॥

नदी के तीर खड़े हो वसुदेव विचारने लगे कि पीछे तो सिंह बोलता है और आगे अथाह यमुना बह रही है, अब क्या करूँ। ऐसे कह भगवान का ध्यान धर यमुना में पैठे। ज्यों ज्यों आगे जाते थे त्यों त्यों नदी बढ़ती थी जब नाक तक पानी आया तब तो ये निपट घबराये। इनको व्याकुल जान श्रीकृष्ण ने अपना पाँव बढ़ाय हुंकार दिया। चरण छूते ही यमुना थाह हुई, वसुदेव पार हो नन्द की पौर जा पहुँचे, वहाँ किवाड़ खुले पाये। भीतर घुसकर देखें तो सब सोये पड़े हैं। देवी ने ऐसी मोहिनी डाली थी कि यशोदा को लड़की के होने की भी सुध न थी। वसुदेवजी ने श्रीकृष्ण को तो यशोदा के ढिंग सुला दिया और कन्या को ले वह अपना पथ लिया। नदी उतर फिर आये तहाँ, बैठी सोचती थी देवकी जहाँ। कन्या दे वहाँ की कुशल कहा। सुनते ही देवकी प्रसन्न हो बोली, हे स्वामी, हमें कंस अब मार डाले तो भी कुछ चिन्ता नहीं क्योंकि इस दुष्ट के हाथ से पुत्र तो बचा।

इतनी कथा सुनाय श्रीशुकदेवजी राजा परीक्षित से कहने लगे कि जब वसुदेव लड़की को ले आये तब किवाड़ ज्यों के त्यों भिड़ गये और दोनों ने हथकड़ियाँ बेड़ियाँ पहन लीं। कन्या रो उठी। रोने की धुन सुन पहरुये जागे तो अपने शस्त्र ले ले सावधान हो लगे तुपक छोड़ने। तिनका शब्द सुन

हाथी चिंघाड़ने, सिंह दहाड़ने और कुत्ते भूँकने। तिसी समय अँधेरी रात के बीच बरसते में एक रखवाले ने आ हाथ जोड़ कंस से कहा महाराज तुम्हारा वैरी उपजा। यह सुन कंस मूर्छित हो गिरा।

बालक का जन्म सुनते ही कंस डरता काँपता उठ खड़ा हुआ और खड्ग हाथ में ले गिरता पड़ता दौड़ा। छूटे बालों, पसीने में डूबा, धुकुड़ पुकुड़ करता जा बहन के पास पहुँचा। जब तिसके हाथ से लड़की छीन ली तब वह हाथ जोड़ बोली, ऐ भैया, यह कन्या है भानजी तेरी इसे मत मार, मारे हैं बालक तिनका दुख मुझे अति सताता है, बिन काज कन्या को मार क्यों पाप बढ़ाता है। कंस बोला, जीती लड़की न दूँगा तुझे, व्याहेगा इसे सो मारेगा मुझे। इतना कह बाहर आ ज्यों ही चाहै कि फिराय कर पत्थर पर पटके, त्यों ही हाथ से छूट कन्या आकाश को गई और पुकार के कह गई, अरे कंस, मेरे पटकने से क्या हुआ, तेरा वैरी कहीं जन्म ले चुका, अब तू जीता न बचेगा।

यह सुन कंस अछता पछता वहाँ आया जहाँ वसुदेव देवकी थे। आते ही तिन के हाथ पाँव की हथकड़ी बेड़ी काट दी और विनती कर कहने लगा कि मैंने बुरा किया जो तुम्हारे पुत्र मारे, यह कलंक कैसे छूटेगा, किस जन्म में मेरी गति होगी। तुम्हारे देवता झूठे हुए जिन्होंने कहा था कि देवकी के आठवें गर्भ में लड़का होगा, सो नहीं, लड़की हुई, वह भी हाथ

से छूट स्वर्ग को गई। अब दया कर मेरा दोष जी में मत रक्खो क्योंकि कर्म का लिखा कोई मेट नहीं सकता। इस संसार में आये से जीना मरना संयोग वियोग मनुष्य का नहीं छूटता। जो ज्ञानी हैं सो मरना जीना समान ही जानते हैं, और अभिमानी मित्र शत्रु कर मानते हैं। तुम तो बड़े साधु सतवादी हो जो हमारे हेत अपने पुत्र ले आये।

ऐसे कह कंस जब बार बार हाथ जोड़ने लगा, तब वसुदेवजी बोले, महाराज तुम सच कहते हो इसमें तुम्हारा कुछ दोष नहीं, विधना ने यही हमारे कर्म मे लिखा था। यों सुन कंस प्रसन्न हो अतिहित से वसुदेव देवकी को अपने घर ले आया, भोजन करवाय, बागे पहराय, बड़े आदर भाव से दोनों को फेर वहीं पहुँचा दिया और मंत्री को बुला कर कहा कि देवी कह गई है कि तेरा वैरी जग में जन्मा। इससे अब देवताओं को जहाँ पाओ तहाँ मारो क्योंकि जिन्होंई ने मुझ से झूठी बात कही थी कि आठवें गर्भ में तेरा शत्रु होगा। मंत्री बोला, महाराज उनका मारना क्या बड़ी बात है वे तो जन्म के भिखारी हैं। जब आप कोपियेगा तभी वे मान जायँगे, तिनकी क्या सामर्थ है जो तुम्हारे सम्मुख हों। ब्रह्मा तो आठ पहर ज्ञान ध्यान में रहता है, महादेव भाँग धतूरा खाय, इन्द्र का कुछ तुम पर न बसाय, रहा नारायण सो संग्राम नहीं जाने, लक्ष्मी के साथ रहता है सुख माने। कंस बोला नारायण को कहाँ पावें और किस विधि जीतें सो कहो। मंत्री ने कहा महाराज जो नारायण को जीता चाहते

हो तो जिनके हृदय में आठ पहर है विनका वास, तिन ही का अब करो विनास। ब्राह्मण वैष्णव जोगी तपसी वैरागी आदि जितने हरि के भक्त हैं तिन में लड़के से ले बूढ़े तक एक भी जीता न रहे। यह सुन कंस ने प्रधान से कहा कि तुम सब को जा मारो। आज्ञा पाकर मत्री अनेक राक्षस ले विदा हो नगर में जा, लगा गौ, ब्राह्मण, वालक औ हरिभक्तो को छल वलकर ढूँढ ढूँढ़ कर मारने।

—लल्लूजीलाल।

हस्तिनापुर में महाराजा परीक्षित को शाप

महाभारत के अन्त में जब श्रीकृष्ण अन्तर्धान हुए तब पाण्डव महादुखी हो हस्तिनापुर का राज परीक्षित को दे आप हिमालय गलने को चले गये। इधर राजा परीक्षित सब देश जीत धर्म्मराज करने लगे। कितने एक दिन पीछे राजा परीक्षित आखेट को गये तो वहाँ देखा कि एक गाय और एक बैल दौडे चले आते हैं तिनके पीछे मूसल हाथ में लिये एक शूद्र मारता आ रहा है। जब राजा पास पहुँचे तो उस शूद्र को बुलाय दुःख पाय झुझलाय कर पूछा—अरे तू कौन है? अपना वखान कर, जो मारता है गाय और वैल को जान कर, क्या अर्जुन को तैंने दूर गया जाना जिससे उसका धनुष नही

वचन सुनते ही राजा परीक्षित ने कलियुग से कहा कि तुम इतनी ठौर में रहो जुये, झूठ, मद की हाट, वेश्या के घर, हत्या, चोरी और सोने में। यह सुन कलि ने तो अपने स्थान को प्रस्थान किया और राजा ने धर्म्म को मन में रख लिया पृथ्वी अपने रूप में मिल गयी। राजा फिर अपने नगर में आये और धर्म्मराज करने लगे।

कितने एक दिन बीते राजा फिर एक समय आखेट को गये और चलते चलते प्यासे भये, सिर के मुकुट पर तो कलियुग रहता ही था उसने अपना अवसर पा राजा को अज्ञान किया। राजा प्यास के मारे वहाँ आते हैं जहाँ लोमश ऋषि आसन मारे नयन मूँदे हरि का ध्यान लगाये तप कर रहे थे। उन्हें देख परीक्षित मन में कहने लगा कि यह अपने तप के घमण्ड से मुझे देख आँख मूँद रहा है ऐसी कुमति ठान एक मरा साँप वहाँ पड़ा था सो धनुष से उठा ऋषि के गले में डाल अपने घर आया। मुकुट उतारते ही राजा को ज्ञान हुआ तो सोच कर कहने लगा कि कञ्चन में कलियुग का वास है यह मेरे सीस पर था, इसीसे मेरी ऐसी कुमति हुई जो मरा सर्प ले ऋषि के गले में डाल दिया सो मैंने अब समझा कि कलियुग ने अपना बदला ले लिया इस महापाप से मैं कैसे छूटूँगा वरन् धन जन स्त्री और राज मेरा क्यों न गया? आज, न जानूँ किस जन्म में यह अधर्म्म जायगा जो मैंने ब्राह्मण को सताया है।

राजा परीक्षित तो यहाँ इस अथाह शोक सागर में डूब रहे थे, और जहाँ लोमश ऋषि थे वहाँ कितने एक लड़के खेलते हुआ जा निकले। मरा साँप उनके गले में देख अचम्भे में हो घबरा कर आपस मे कहने लगे कि भाई कोई इनके पुत्र से जाकर कह दे जो उपवन में कौशिकी नदी के तीर ऋषियों के बालकों में खेलता है। एक सुनते ही दौड़ा वहाँ गया जहाँ शृङ्गी ऋषि बालकों के साथ खेलता था। जा कर कहा—बन्धु तुम यहाँ खेलते हो कोई दुष्ट मरा काला साँप तुम्हारे पिता के कण्ठ में डाल गया है, सुनते ही शृङ्गी ऋषि के नयन लाल हो गये दाँत पीस थर थर काँपने और क्रोध कर कहने लगा कि कलियुग में राजा उपजे हैं अभिमानी, धन के मद से अन्धे हो गये हैं दुःखदानी। अब मैं उसको दूँ शाप, वही मीच पावेगा आप। ऐसे कह शृङ्गी ऋषि ने कौशिकी नदी से जल चुल्लू में ले राजा परीक्षित को शाप दिया कि तक्षक सर्प तुझे सातवें दिन डसेगा। इस भाँति राजा को शाप दे अपने बाप के पास आ गले में से साँप निकाल कहने लगा कि हे पिता! तुम अपनी देह सम्भालो मैंने उसे शाप दिया है जिसने आपके गले में मरा साँप डाला था। यह वचन सुनते ही लोमश ऋषि ने चैतन्य हो नयन उघाड़ अपने ज्ञान ध्यान से विचार कर कहा अरे पुत्र तूने यह क्या किया क्यों शाप राजा को दिया। उसके राज्य में सब सुखी थे कोई दुखी न था, ऐसा धर्मराज था कि जिसमें सिंह गाय एक साथ रहते और आपस में कुछ न कहते—

जिनके देश में हम बसे क्या हुआ तिनके हँसे। मरा हुआ सर्प डाल गया था उसे शाप क्यों दिया गया? तनक दोष पर ऐसा शाप, तैंने किया बड़ा ही पाप। कुछ विचार मन में नहीं किया, गुण छोड़ अवगुण ही लिया, साधु को चाहिये शील स्वभाव से रहे, आप कुछ न कहे, और की सुन ले, सब का गुण ले ले औगुण तज दे।

इतना कह लोमश ऋषि ने एक चेले को बुला के कहा। तुम राजा परीक्षित के पास जाकर जता दो कि तुम्हें शृङ्गी ऋषि ने शाप दिया है। भले लोग तो दोष देवेंहीगे पर वह सुन साव-धान तो होय। इतना वचन गुरु का मान चेला चला चला वहाँ आया जहाँ राजा बैठा सोच कर रहा था। आते ही कहा—महाराज! तुम्हें शृङ्गी ऋषि ने यह शाप दिया है कि सातवें दिन तुम्हें तक्षक डसेगा। अब तुम अपना कारज करो जिससे कर्म्म की फाँसी से छूटो। सुनते ही राजा प्रसन्नता-पूर्वक हाथ जोड़ खडा हो कहने लगा ऋषि ने मुझ पर बड़ी कृपा की जो मुझे शाप दिया क्योंकि मैं माया मोह के अपार सागर में पड़ा था सो निकाल बाहर किया। जब मुनि का शिष्य विदा हुआ तब राजा ने आप तो वैराग्य लिया और जनमेजय को बुलाय राज पाट देकर कहा कि बेटा! गौ-ब्राह्मण की रक्षा कीजियो और प्रजा को सुख दीजो इतना कह पीछे रनवास में आये और रानी सब देखीं उदास, राजा को देखते ही रानियाँ पावों पर गिर रो रो कहने लगीं महाराज तुम्हारा

वियोग हम अबला न सह सकेंगी। इससे तुम्हारे साथ जी दे देवें तो भला। राजा बोले सुनो स्त्री को उचित है कि जिसमें अपने पति का धर्म्म रहै सो करै उत्तम काज में बाधा न डाले। इतना कह धन जन कुटुम्ब और राज की माया तज निर्मोही हो अपना योग साधन के लिये गङ्गा के तट पर जा बैठा। इसको जिसने सुना वह हाय हाय कर पछिताय पछिताय बिन रोये न रहा। जब यह समाचार मुनियों ने सुना कि राजा परीक्षित शृङ्गी ऋषि के शाप से मरने को गङ्गातीर पर आ बैठा है तब व्यास, वशिष्ठ, भरद्वाज, कात्यायन, पराशर, नारद, विश्वामित्र, वामदेव, यमदग्नि आदि अट्ठासी सहस्र ऋषि आये और आसन बिछाय पाँत बैठ गये। उपरान्त अपने शास्त्रों को विचार विचार भाँति भाँति के अनेकानेक धर्म उपदेश राजा को सुनाने लगे।

—प्रेमसागर से।

शरद-ऋतु

(तुलसीदासजी की रामायण से)

चौपाई।

वर्षा विगत शरद-ऋतु आई।
लक्ष्मण देखहु परम सुहाई॥
फूले कास सकल महि छाई।
जनु वर्षा-कृत प्रगट बुढ़ाई॥

उदित अगस्त्य पंथ जल सोखा।
जिमि लोभहि सोखै सन्तोषा॥
सरिता सर निर्मल जल सोहा।
सन्त हृदय जस गत मद मोहा॥
रस रस सूख सरित सर पानी।
ममता त्याग करहि जिमि ज्ञानी॥
जानि शरद्-ऋतु खंजन आये।
पाय समय जिमि सुकृत सुहाये॥
पंक न रेणु सोह अस धरनी।
नीति-निपुण नृप की जस करनी॥
जल सकोच विकल भये मीना।
विविध कुटुम्बी जिमि धन हीना॥
विन घन निर्मल सोह अकाशा।
जिमि हरिजन परिहरि सब आशा॥
कहुँ कहुँ वृष्टि शारदी थोरी।
कोउ एक पाव भक्ति जिमि मोरी॥

दोहा।

चले हरषि तजि नगर नृप, तापस वणिक भिखारि।
जिमि हरि भक्तिहि पाइ जन, तजहि आश्रमी चारि॥

चौपाई।

सुखी मीन जह नीर अगाधा।
जिमि हरि शरण न एकौ बाधा॥

फूले कमल सोह सर कैसे।
निर्गुन ब्रह्म सगुन भये जैसे॥
गुञ्जत मधुकर निकर अनूपा।
सुन्दर खगरव नाना रूपा॥
चक्रवाक मन दुख निशि पेखी।
जिमि दुर्जन पर-सम्पति देखी॥
चातक रटत तृषा अति ओही।
जिमि सुख लहै न शङ्कर-द्रोही॥
शरद ताप निशि शशि अपहरई।
सन्त दरस जिमि पातक टरई॥
देखहिँ बिधु चकोर समुदाई।
चितवहि जिमि हरिजन हरि पाई॥
मशक दंस बीते हिम त्रासा।
जिमि द्विज द्रोह किये कुल नासा॥

दोहा।

भूमि जीव संकुल रहे, गये शरद ऋतु पाय।
सतगुरु मिले तें जाहिं जिमि, संशय भ्रम समुदाय॥

चित्रांकन

मैकमिलन की

आफिशियल ड्राइंग बुक्स

प्रत्येक का मूल्य ।≤) आना

बुक १—वर्ग-पत्र पर आसान नमूने और परिचित वस्तुएं

बुक २—सादा कागज पर आसान नमूने और परिचित वस्तुएं

बुक ३—सादा नमूने, पटरीके और बिना पटरीके अभ्यास मिश्रित

बुक ४—परिचित वस्तुएं, पटरी के और बिना पटरी के अभ्यास मिश्रित

बुक ५—सादा नमूने, पटरी के और बिना पटरी के अभ्यास मिश्रित

संयुक्तप्रान्तकी टेक्स्ट बुक कमेटी ने ये किताबे पाठ्य क्रम में नियत की हैं, शिक्षा-विभाग के डायरेक्टर साहब ने इन्हें स्कूलों में उपयोग करने का अधिकार दिया है। पांचवीं किताब देशी भाषा की अन्तिम परीक्षा के लिये नियत है।

हस्त-लिपि

पण्डित सुखराम चौबे (गुणाकर कवि) कृत

लिपि-प्रबोध चारों नम्बर—(आठो भाग)

आकार ८"×६½", प्रत्येक भाग का मूल्य ≥)

(१) ये 'लिपि-प्रबोध' अपनी कुछ विशेषताओं के कारण प्र... है। इनमें दिये हुए अक्षरों से विद्यार्थियों को विधिवत् लिखने की शिक्षा मिलती है जो लिपि-प्रबोध का प्रधान उद्देश्य है। इसके लिपि-प्रबोध के कुछ पृष्ठों पर मात्रा तथा अक्षरों के आकार उनकी सीमा बद्ध कर दी गई है जिससे विद्यार्थियों को वाक्य उन्हीं के अनुसार लिखने का अभ्यास करना पड़े। ये आदर्श-लि... विद्यार्थियों के लिये अत्यन्त उपयोगी है।

(२) प्रत्येक 'लिपि-प्रबोध' में लिपि सम्बन्धी उपयोगी उपदेश सरल भाषा में विद्यार्थियों के लिये दिये हुए है।

(३) ये नवीन 'लिपि-प्रबोध' चिकने कागज़ की घनी छपी हुई ... अतः विद्यार्थियों को लिखने में खूब सुविधा होगी।

(४) इन 'लिपि प्रबोध' के कुछ पृष्ठों पर छोटे छोटे वाक्य भी ... हुए है जिन का अभ्यास विद्यार्थियों को बहुत ही मनोरञ्जक होगा।

मैकमिलन हिन्दी कापी बुक—(छः भाग)

आकार ८"×६½", प्रत्येक भाग का मूल्य -)॥

१ला भाग सरल और वक्र रेखा, अंकुसी और क-वर्ग, च-वर्ग के अक्षर।

२रा „ ट-वर्ग और प-वर्ग के अक्षर।

३रा „ दन्तस्य, उ, अ, अनुनासिक, क्ष और ज्ञ।

४था „ स्वर।

५वां „ साधारण शब्द और वाक्य जिनमें युक्ताक्षर नहीं है।

६ठा „ संयुक्ताक्षर : इनसे बने हुए शब्द और वाक्य